प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
आगरा।

*

प्रथम संस्करण

*

मूल्य डेढ़ रुपया

*

मुद्रक
साहित्य-प्रेस,
आगरा।

निवेदन

वर्तमान युग एकाङ्की नाटकों का है। हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का जन्म कब हुआ और कैसे उसका विकास हुआ इस पर अभी तक बहुत कम प्रकाश डाला गया है। साधारण नाटकों पर आलोचना की कई पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें प्रो० नगेन्द्र लिखित 'आधुनिक हिन्दी नाटक' प्रमुख है पर इन पुस्तकों में भी एकाङ्कियों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ पाया है ऐसी दशा में वर्तमान युग के साहित्य के इस प्रमुख अंग पर एक आलोचना पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति इस पुस्तक के द्वारा बहुत अच्छे ढंग से श्री सत्येन्द्रजी ने की है। इसमें न केवल एकांकी नाटकों के उदय और विकास पर प्रकाश डाला गया है वरन् उनके तत्वों और शिल्प-विधान (Technique) के मार्मिक विवेचन के साथ उन्हीं सिद्धान्तों के आलोक में विशेष नाटकों की आलोचना भी दी गई है।

आलोचना-क्षेत्र में सत्येन्द्रजी कोई अपरिचित व्यक्ति नहीं हैं। अपनी गम्भीर लेखन-शैली और प्रगाढ़ विद्वत्ता के कारण उन्होंने हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। हिन्दी में समालोचना की अध्ययन-शैली के तो वे जन्मदाता ही माने जाने चाहिये। 'साहित्य की झाँकी' उनके लेखों का एक संग्रह है जिसका तीसरा संस्करण हाल ही में हुआ है स्व० प्रेमचन्द पर भी सत्येन्द्रजी ने एक गम्भीर पुस्तक लिखी है जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है। यह पुस्तक भी उनके गम्भीर अध्ययन और मौलिक आलोचना-प्रणाली की परिचायक होगी। हमारे लिखने में कितना सार है यह पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक के पढ़ने से स्वयं ही प्रकट हो जायगा नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।

—महेन्द्र

अवतारणा

हिन्दी में एकांकी पर पृथक रूप से अब तक कुछ नहीं लिखा गया। यह ऐसा प्रथम प्रयास है। आज एक ऐसी पुस्तक का अभाव प्रतीत हो रहा था जिसमें एकांकी के इतिहास, तत्व और आलोचना के सम्बन्ध में कुछ विशद रूप से लिखा गया हो। 'एकांकी' नाटक जनरुचि को भी आकर्षित कर रहे हैं; और विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों में पाठ्य-ग्रन्थ भी हैं। विद्यार्थी और साधारण जन सभी एकांकियों की कला और उनके तत्वों को समझने के लिए आज उत्सुक है मैं समझता हूँ मेरा यह प्रयास यत्किंचित उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। एकांकी के सम्बन्ध में हमें अभी तक जो विवेचनाएँ मिलती हैं, वे विविध संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में हैं। इस पुस्तक में जिन भूमिकाओं का उपयोग किया गया है उनका उल्लेख यथा स्थान है। प्रोफेसर नगेन्द्र की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में भी 'एकांकी' पर एक अलग अध्याय है। प्रस्तुत पुस्तक में इन सबके मतों को भी दे दिया गया है, जिससे एकांकी नाटकों के सम्बन्ध में प्रचलित सिद्धान्त पक्ष का प्रत्येक पहलू स्पष्ट हो सके।

मैंने यह सब एक विद्यार्थी की दृष्टि से किया है, एक अध्यापक विद्यार्थी ही है। विद्यार्थी को अपने अध्ययन में किसी प्रकार के मोह में नहीं पड़ना चाहिए। मैंने भी ऐसा ही करने की चेष्टा की है। जिन एकांकीकारों के एकांकियों पर दृष्टिपात मैंने किया है उनमें से कई मेरे आदरास्पद, कई मित्र, कई परिचित और कई कृपालु हैं। ऐसा होते हुए भी मुझे जो यथार्थ विदित हुआ है वही लिखा है

हिन्दी एकांकियों का जो इतिहास दिया गया है, वह हिन्दी में एकांकियों की एक लम्बी परम्परा सिद्ध करता है। यह अध्याय भी बहुत अपर्याप्त साधनों के आधार पर लिखा गया है, और बिल्कुल नया कदम है। इस बात की अपेक्षा है कि इस ओर विशेष श्रम किया जाय, और जिन एकांकी नाटकों का उल्लेख भारतेन्दु युग से विकास की तीसरी सीढ़ी तक हमने किया है। उनका पूर्ण अध्ययन एकांकी के पूर्ण इतिहास लिखने की दृष्टि से किया जाय, साथ ही उस काल के विविध पत्रों का अध्ययन किया जाय। 'हिन्दी-प्रदीप' से हमने जो एक-दो दृष्टान्त दिये हैं, उनकी एक परम्परा अवश्य ही तत्कालीन पात्रों में मिलेगी क्योंकि द्विवेदी युग से पूर्व हिन्दी लेखकों का ध्यान इतना कहानी और उपन्यासों की ओर नहीं था, जितना नाटकों की ओर। लेखक का विश्वास है कि फिर भी उसकी जो स्थापनायें हैं वे रूपरेखा में आगे की शोध से और भी पुष्ट ही होंगी, और उसके निष्कर्ष अधिकाधिक प्रामाणिक।

जिन विद्वानों की पुस्तकों का मैंने किसी भी रूप में उपयोग किया है, उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। साथ ही अपने दो विद्यार्थियों को भी धन्यवाद देना है, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में कई प्रकार की सहायता दी। वे हैं श्री० उमापतिराय चन्देल तथा श्री मोहनलाल चेजारा।

यों यह क्षुद्र पुष्प मा भारती के चरणों में भेंट है।

—लेखक

विद्वद्वर्य

श्री गुलाबरायजी एम० ए०

संपादक 'साहित्य-संदेश'

के

कर-कमलों में

उनकी दीर्घकालीन साहित्य सेवा, विभिन्न विषयों से
सम्बन्धित उनका प्रगाढ़ पांडित्य, बाल-सुलभ
सीधापन और विमुग्धक नम्रता, तथा
युवक-दुर्लभ उत्साह और कर्त्तव्य-
परायणता आदि गुणों से
अभिभूत हो यह अकिंचन

पुस्तक

सादर समर्पित करता हूँ।

विनीत—

लेखक

विषय-सूची

हिन्दी नाटकों का आरम्भ

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी अपने जीवन के लगभग नौ सौ वर्ष समाप्त कर चुकी थी, किन्तु कितने ही कारणों से उसमें नाटकों का निर्माण न हो सका। इन कारणों में से पहला कारण ऐतिहासिक अनिश्चितता थी। सारा भारत हिन्दी के जन्मकाल से ही आन्तरिक अथवा बाह्य संघर्षों का शिकार हो रहा था। राजाओं को नाटक जैसे साहित्य के विशेष समय और धन सापेक्ष अङ्ग को पुष्ट करने का अवकाश कहाँ था ? और मुगलों के समय तक संस्कृत की नाटक प्रणाली लुप्त हो चुकी थी। अतः मुगलों के राज्यकाल में भी नाटकों का निर्माण न हो सका। इनके अभाव में लोक-मानस ने धार्मिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर रामलीला, भगत-स्वाँग अथवा रास लीलाओं का निर्माण कर संतोष प्राप्त किया था।

दूसरी कठिनाई सामर्थ्यवान गद्य के अभाव की थी। नाटक के लिए प्रौढ़ और शक्तिशाली गद्य की आवश्यकता होती है। हिन्दी में भारतेन्दुजी तक यथार्थ गद्य आरम्भ नहीं हुआ था।

तीसरी कठिनाई थी—नटों के प्रति घृणा और साम्प्रदायिक मतों की प्रधानता, जिनमें नैतिकता का परिपालन ललित को त्यागने पर ही निर्भर था। जब औरङ्गजेब संगीत को भी अत्यन्त गहराई में दफना देना चाहता था, तो नाटक-कला का विकास कैसे सम्भव था ?

चौथी कठिनाई प्रतिभाओं में काव्यकला के स्वरूप को ही विकसित करने और उसी को लेकर पाण्डित्य और विद्वत्ता तथा रचना-कौशल दिखाने की प्रवृत्ति थी। सामन्त-युग के समस्त विकार इस काल में पूर्ण परिपाक पर थे। इससे चित्रकार, कवि, और संगीतकार तथा नट अलग-अलग जाति के प्राणी बनकर रह गए थे और उनका कर्म तथा व्यवसाय कठोर जातीय धर्म की सीमा में बँध गया था। ऐसी अवस्था में नाटक और रङ्गमंच का प्रादुर्भाव तथा विकास नहीं हो सकता। भारतेन्दुजी ने उपर्युक्त सभी कठि-

नाइयों को शिथिल पाया। उधर बंगला आदि में अंग्रेजी के प्रभाव से नाटकों का नव निर्माण हो चुका था। राष्ट्रीय चेतना में अपने साहित्य के पूर्व गौरव को प्राप्त करने का भाव बहुत प्रबल हो उठा था। इसीलिए भारतेन्दुजी में हमें दो प्रवृत्तियों में संघर्ष स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पहला, अपने प्राचीन साहित्य को अपनाना। इसीलिए भारतेन्दुजी ने अनेकों संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया। साथ ही दूसरी प्रवृत्ति, सामयिक अनुकूलता की थी। भारतेन्दुजी ने यह स्वीकार किया कि नाट्यशास्त्र के समस्त अंग-उपांगों का निर्वाह आज का हिन्दी नाटककार नहीं कर सकता। फलतः उन्होंने उस सीधे ढङ्ग का भी अनुकरण किया, जो हिन्दी के रङ्गमंच-निर्माण में सहायक हो सकता था। इसके दर्शन हमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में होते हैं, जिसकी कथा-वस्तु और भाव तो संस्कृत नाटक से लिए गए हैं, किन्तु जिसके रूप में सामयिकता की दृष्टि से काफी संशोधन कर दिया गया है।* स्पष्ट, उन्होंने एक भाण लिखा, एक नाट्य-रासक लिखा, एक सट्टक लिखा। ये तीनों ही एकांकी नाटक हैं, और अनुवाद नहीं। इससे यह कहा जा सकता है कि नाटकों का ही नहीं, एकाकी नाटकों का भी आरम्भ भारतेन्दुजी ने किया।

---

* भारतेन्दुजी के हरिश्चन्द्र को एक वर्ग 'चण्ड कौशिक' के आधार पर निर्मित मानता है। इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हो चुका है और इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दुजी के 'हरिश्चन्द्र' को चण्ड कौशिक से स्वतन्त्र मानना ठीक होगा। दूसरा मत रामचन्द्र शुक्लजी का यह है कि यह बंगला का अनुवाद है। उन्होंने लिखा है :

'सत्यहरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बंगला-नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।' ऐसा होने पर वह उस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि है जिसे भारतेन्दुजी मान्य समझते थे, और नया मार्ग समझते थे।

हिन्दी के आरम्भ कालीन एकांकी

जैसा अभी बताया गया है निर्विवाद रूप से हिन्दी के नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दुजी के समस्त नाटकों पर दृष्टि डालने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि विविध नाटकों को लिखने और अनुवाद करने में उनकी दृष्टि निरुद्देश न थी। वे नाट्य-शास्त्र के अनुसार रूपक उपरूपक के विविध भेदों को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण की भाँति एक-एक रचना दे जाना चाहते थे। इस दृष्टि से वे नाट्य-शास्त्र प्रचेता थे। उन्होंने तभी संस्कृत रूपक-उपरूपकों के कई विभेदों का अनुवाद किया। उनमें से कई एकांकी थे, जिनकी ओर ऊपर संकेत हो चुका है और आगे भी होगा। पर भारतेन्दुजी केवल प्राचीन परिपाटी को उद्घाटित करने वाले ही न थे—नयी प्रणाली को उपस्थित करने की चाह भी उनमें थी। उस समय नाटक-रचना की विविध प्रेरणाओं के अनुसार जो रूप वे नाटकों का निर्धारित कर सके, वह 'हरिश्चन्द्र' के द्वारा उन्होंने उपस्थित किया। साथ ही 'भारत दुर्दशा' तथा 'भारत-जननी' जैसे एकांकी भी प्रस्तुत किए—'अन्धेर नगरी' प्रसहन भी प्रसिद्ध ही है। 'भारत-जननी' बंग-भाषा से अनुवादित था। वृन्दाबन के श्री राधाचरण गोस्वामीजी ने १ मार्च १८७६ के प्रयाग के मासिक 'हिन्दी-प्रदीप' पृष्ठ २ पर 'भारतवर्ष में यवन लोग' के अनुवाद के विज्ञापन में लिखा।

भारतवर्ष में यवन लोग

(रूपक)

विज्ञापन।

बङ्गभाषा में 'भारत माता' और 'भारते यवन' ये दो रूपक हैं। 'भारत माता' का 'भारत जननी' के नाम से कुछ अंश 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' और 'कवि-वचनसुधा' में प्रकाश हो चुका है। 'भारत यवन' अब मैंने अनुवाद किया है।

हिन्दी को नाटकों की यथार्थ प्रेरणा बंगला से मिली है। भारतेन्दुजी का सबसे प्रथम अनुवादित नाटक 'विद्या सुन्दर' बंगला का नाटक था। उक्त

काल के एकांकियों का आरम्भ भी बंगला भाषा की प्रेरणा का ही फल मानना होगा।

उपरोक्त विज्ञापन से यह विदित होता है कि इन एकांकियों का विषय राष्ट्रीय था—गोस्वामीजी ने लिखा है:—

'पर इसके पढ़ने से देशवासियों को लज्जा होगी, यह मैं अवश्य कह सक्ता हूँ, किन्तु जी नहीं मानता। भारतवासियों को स्वदेश के विषय लज्जा हो, इसमें दृढ विश्वास नहीं होता।' गोस्वामीजी के हृदय में अपने देशवासियों के प्रति कैसा हीन भाव था, इससे हमें तात्पर्य नहीं। नाटक का विषय हमारे सामने है—वह है स्वदेश से सम्बन्धित। उक्त विज्ञापन में नाटक नाम नहीं दिया गया, 'रूपक' का प्रयोग है। यह रूपक विशेषार्थक ही कहा जायगा। संस्कृत नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से यों प्रत्येक नाटक ही रूपक है। पर 'रूपक' नाम का कोई 'नाटक' नहीं है। या तो लेखक अपने नाटक को शास्त्रीय दृष्टि से कोई उचित नाम नहीं दे सका इसलिए उसने जाति के नाम का उपयोग किया है, या जिसकी अधिक सम्भावना प्रतीत होती है, ऐसे छोटे नाटक जो किसी विशेष सामयिक उपयोग के लिए लिखे गये हों बंगला में रूपक कहे जाते रहे हों। जो भी हो गोस्वामीजी ने 'भारत जननी' और 'भारतवर्ष में यवन लोग' इन रचनाओं को 'रूपक' संज्ञा दी है। बंगला मे ऐसे नाटक रूपक कहे गये इसका प्रमाण हमें मिलता है। १५ फरवरी १८७३ में हिन्दू मेले के अवसर पर 'नेशनल थियेटर' ने एक राष्ट्रीय नाटक खेला जिसका नाम 'भारत-माता विलाप' था। हो सकता है यही वह नाटक हो जिसका 'भारत-माता नाम से ऊपर उल्लेख हुआ है, और जिसका अनुवाद भारतेन्दुजी ने 'भारत जननी*' नाम से किया। इसके सम्बन्ध में कार्तिक १२८० B. S. के 'वंग दर्शन' में टिप्पणी दी गयी कि

* पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है:

"कहते हैं कि 'भारत-जननी' उनके एक मित्र का किया हुआ वंग भाषा में लिखित 'भारत माता' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते सारा फिर से लिख डाला।"

'a Burlesque or allegory. Mother India, the presiding deity of fortune, some Indians and two Europeans, Patiece and Courage were its characters. It was a tolerably good production.'

तो 'रूपक' का प्रयोग अलंकार्य अर्थ में है–जिसमें ऐसे पात्रों की रूप कल्पना की जाय जो मनुष्य-शरीर धारी नहीं। उदाहरण के लिए न तो 'भारत लक्ष्मी' जैसा कोई व्यक्तित्व कहीं है, न भारत माता ही मानव के रूप में कहीं मिलेगी। यह (Personification) मनुष्यत्व का आरोप है। इनके 'रूपक' होने का प्रधान कारण है। अतः दो रूपक हिन्दी ने बंगला से लिए और 'भारत दुर्दशा' भी उस अर्थ में रूपक ही है, वह भारतेन्दु जी ने मौलिक ही लिखा।

'भारतवर्ष में यवन लोग' रूपक का आरंभ अरण्य में भारत लक्ष्मी के मन्दिर के दृश्य से होता है, यही दृश्य अन्त तक रहता है, न दृश्य परिवर्तन होता है न स्थान परिवर्त्तन। केवल पात्र आते जाते हैं। पहले उदासीन आकर गौरी राग में एक रोती हुई स्त्री का करुण चित्र उपस्थित करता है।

देखी परवत पै इक नारी,
मानो पाय राहु को भय कछु गिरो भूमि चन्दा री
कहत पुकार पुकार रोय कै "मैं भारत महतारी,
अरे दई ! निरदई ! विजातिन करो कलङ्कित भारी
हाय ! पुत्र जननी के दुख को लै लै कर तरवारी,
क्यों नहि करत ? विनाश वेग ही आवत नहि धिक्कारी,"
तब मैं जानी यह साधारन जन की राखन हारी,
भारत स्वाधीनता दिवानिश रोवत बारम्बारी

इस प्रकार भारत की दुर्दशा का संकेत कर उदासीन चला जाता है तव वामदेव चैतन्य होकर आर्य सन्तान को धिक्कारता है जिनकी कापुरुषता के कारण ही भारत-स्वाधीनता निर्जन वन पर्वत में चली गई है। तब भारत रमणी और भारत संतान आते हैं। भारत रमणी समझाती है भारत-

संतान को कि तुम अकेले हो, कोई तुम्हारा साथ देने वाला नहीं है, पहले संघटित हो लो तब यवनों का सामना करना, यवनों की संख्या बहुत है। उत्साही भारत सन्तान कहता है, भारत लक्ष्मी का मन्दिर लूटने म्लेच्छ आ रहे है, इतना समय कहाँ है, मैं अकेला ही यह साका करूंगा। वामदेव उसे प्रोत्साहित करते हैं। भारत संतान को आज्ञा प्रदान कर भारत रमणी चली जाती हैं। तब अपनी वीर प्रतिज्ञा सुनाकर भारत संतान भी चला जाता है। वामदेव अब मन्दिर में चला जाता है तब म्लेच्छासुर सेना के साथ आता है। लूटपाट करता है। एक यवन एक स्त्री को पीटता आता है। भारत लक्ष्मी दुखी होकर और दुराचार आर्य सन्तानों को शाप देकर रोती रोती चली जाती है।

भारत सन्तान और म्लेच्छराज लड़ते-लड़ते आते हैं। भारत सन्तान म्लेच्छ सेना को तो मार गिराता है, पर म्लेच्छराज के हाथों मारा जाता है। भारत लक्ष्मी आती है और मृत भारत सन्तान को यह कहती हुई ले जाती है कि 'जघन्य प्रेत-भूमि भारत-भूमि तुम सरीखे वीरों का स्थान नहीं है। चलो अब तुम्हें वीर लोक मे ले चलूँ।' तभी नेपथ्य में तोप ध्वनि होती है। अँगरेज आकर यवनराज को बाँध लेते हैं। वामदेव आकर अँगरेजों की स्तुति करते हैं। अँगरेज पूछता है—और क्या चाहता। तब कामदेव कहते हैं—

"गयो यवन को राज मिट, भयो सबन आनन्द,
जिमि आतप के अन्त मे, प्रघटे पूरनचन्द।' तथापि—
गोरश्याम को भेद छोड़ हम सबको पाले,
विद्या बुद्धि विनयादि थाप अज्ञान निकालें।
लहें न कर को बोझ उचित अधिकार सँभालें,
समै समै अन्याय आय हमको नहि सालें॥
दुख दारिद सब दूरहि रहें प्रतिजन होय न तेज को
निस वासर यह माँगत रहें रहै राज अँगरेज को।

इस एकांकी का सबसे बड़ा गुण है स्थान की इकाई का होना। एक ही दृश्य, एक स्थान—आज के नाटक के आदर्श नियमों के अनुसार भी श्रेष्ठ माना

जायगा। विविध दृश्य सामग्री का अभाव है। कथानक भी अत्यन्त सीधा। हाँ, वचनों में रस का पुट होने से मन प्रभावित होता है। रूपक होने के कारण ही पात्र साधारण मानव जाति के नहीं; कथा में शताब्दियों की कहानी को प्रतीकों में प्रकट कर दिया है। मुसलमानों का आक्रमण और अत्याचार तथा अँगरेजों का उनसे राज्य छीन लेना—सभी का रूपक इसमें आ गया है। यह तो वह रूपक है जो बँगला से लिया गया। अब एक हिन्दी प्रहसन भी इसी युग का हमें मिलता है—यों तो 'अन्धेर नगरी' और 'विषस्य विषमोषधम्' भी प्रहसन है, पर वे तो विख्यात व्यक्ति के लिखे हुए हैं। उस काल का अन्य व्यक्ति साधारणतया कैसे प्रहसन लिखते थे यह हम 'हिन्दी-प्रदीप'* में ही प्रकाशित 'जैसा काम वैसा परिणाम' के अध्ययन से जान सकते हैं। दृश्य खुलता है— स्थान—जनानखाने में रसोई का घर। प्रदीप हाथ में लिये शशिकला का प्रवेश। शशिकला पतिव्रता स्त्री, उसका पति तीन दिन से गायब है, वह जानती है कहाँ गया है, फिर भी वह उसकी चिन्ता में है। राधावल्लभ उसका पति आता है और भोजन में शोरवा न होने के कारण उसे धक्का देकर चला जाता है। वह गिर पड़ी, खाना फैल जाता है, उसकी पड़ोसिन दूध लेने आती है, वह पूछती है तो कहती है कि मैं ठोकर खाकर गिर पड़ी, वे भूखे चले गये। दुखी है, तब दूसरा गर्भाङ्क स्थान—मोहिनी का घर। मोहिनी और राधावल्लभ बैठा है, पास भोजन और ग्लास रखा है। मोहनी वेश्या है और बसन्त की रखेली है, वही सब खर्च करता है। राधावल्लभ से बातें हो रही हैं कि बसन्त आ जाता है। मोहिनी राधावल्लभ को स्त्री के वस्त्र पहना कर छिपा लेती है। उसे माँ बताकर, पहले बसन्त को पेड़ा लेने बाजार भेजती है, फिर पानी मँगाती है, फिर धोती मँगाती है और माँ के नाम से राधावल्लभ को विदा कर देती है। बसन्त कहता है वह तो आदमी था तो मोहिनी उसे छोड़ जाती है। बसन्त को अब ज्ञात होता है वह अंत मे कहता है :

"दर्शक महाशयो बचे रहना देखिए कहीं यही परिणाम आप लोगों का भी न हो।" जवनिका पतन।

---

* हिन्दी-प्रदीप १ अक्टूबर १८७८, वर्ष २, नं० २

यह एकांकी तो है पर दो दृश्यों में। दृश्य को नाटककार ने गर्भाङ्क नाम दिया है। दृश्य के लिए गर्भाङ्क का प्रयोग इस समय प्रचलित सा हो गया था, यह हमें पंडित बद्रीनारायण चौधरी (प्रेमघन) की एक साक्षी से भी विदित होता है। लाला श्री निवासदास के "संयोगता स्वयंम्वर" की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना कादंबिनी में करते हुए आपने लिखा—

" .....एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्त्तन के कारण गर्भाङ्क की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी परदे के बदलने को दूसरा गर्भाङ्क मानते हैं। सो आपने एक ही गर्भाङ्क में तीन बदल डाले।"

इस एकांकी का विषय सामाजिक है। नाटककार ने पतिव्रता और वेश्या का अन्तर प्रकट किया है। पहला दृश्य तो गम्भीर करुणा पैदा करने वाला है, हास्य का नाम भी नहीं। दूसरे में राधावल्लभ के माँ बनने में हास्य माना जा सकता है, पर उतना ही इसे प्रहसन बनाने के योग्य नहीं। वह हास्य भी पाठकों में कम स्थित होगा, पात्रों में ही अधिक पात्र साधारण और हीन हैं, हीनवंश से नहीं कर्म से। यथार्थतः किसी रस का भी पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया। कथानक में वसंत को इतना बुद्धू बनाना भी व्याघात पैदा करता है, सामाजिक नाटकों में स्वाभाविकता की सब से अधिक रक्षा होनी चाहिए।

इन दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ कालीन एकांकियों में न तो संस्कृत नाट्य शास्त्र के नियमों का पालन होता था, न किसी अन्य विशेष परिपाटी का। हिन्दी का नाटककार अभी बहुत अव्यवस्थित था। वह एक कल्पना करता था, और उसे अपने मन के बनाए किसी भी साँचे में ढाल देता था। पर यह तो सिद्ध ही है कि हिन्दी में भी एकांकी लिखे गये—ऊपर जिन एकाङ्कियों का उल्लेख किया गया है वे एकांकी ही हैं और आधुनिक एकाङ्कियों के पूर्वगामी हैं। इनमें कथा बहुत सूक्ष्म है, एक उद्देश्य की ओर तीव्र गति से प्रधावित हैं, अनावश्यक बातों का निवारण है। पात्र साधारण हैं, विषय विविध हैं—पर सभी ओर से ये अविकसित हैं।

वे न तो संस्कृत के अनुकरण पर हैं, न अंगरेजी के। कला की सूक्ष्म दृष्टि इनमें नहीं आयी। अतः हम इन्हें हिन्दी के एकाङ्कियों की प्रथमावस्था कह सकते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के 'संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण' के पृष्ठ ६०८ पर लिखा है:

"दो एक व्यक्ति अंगरेजी में एक अङ्क वाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढङ्ग के दो एक एकाकी नाटक लिखकर उन्हें बिल्कुल एक नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अङ्क वाले कई उपरूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए हैं।"

उपरूपक के उल्लेख से प्रतीत होता है कि शुक्लजी का 'हमारे यहाँ' शब्दो से अभिप्राय हमारी संस्कृत की संपत्ति से है। जैसा हम परिशिष्ट में 'संस्कृत में एङ्काकी' में विस्तार से प्रकट करेंगे। हमारे यहाँ एक अङ्क वाले कई उपरूपक ही नहीं रूपक भी थे। 'भाण' तथा 'प्रहसन' जो पहले तथा बाद में भी अत्यन्त जन-प्रिय रहे, रूपक के ही भेद हैं, उपरूपक के नहीं। फिर जैसा हमने इसी अध्याय में सिद्ध किया है हिन्दी मे एकाङ्कियों की पराम्परा भारतेन्दु काल से ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार नाटक की। जैसे नए ढङ्ग के नाटकों का आश्चर्यमय आरम्भ 'प्रसाद', उदयशङ्कर भट्ट या लक्ष्मीनारायण मिश्र के द्वारा नही माना जा सकता, उसी प्रकार एकाङ्कियो का भी आश्चर्यमय नवारम्भ प्रसाद, डाक्टर रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर या उग्र से नही माना जा सकता है*। इन लोगों ने तो किन्हीं बाहरी प्रभावों से और आवश्यकताओं से प्रेरित होकर इनकी पुनर्स्थपना

---

* 'आधुनिक हिन्दी नाटक' नाम की पुस्तक में प्रो० नगेन्द्रजी ने लिखा है "हिन्दी एकांकी का इतिहास गत दस वर्षों में सिमटा हुआ है"—

ये पंक्तियाँ लेखक इस काल के यथार्थ अध्ययन के अभाव के कारण ही लिख सका। इस पाठ में जो साक्षियाँ एकाङ्कियो के सम्बन्ध मे दी गयी है, जब उन पर विचार किया जायगा तो यह मानना पड़ेगा कि 'एक घूंट' ही नहीं' और भी 'एक घूंट' के कितने ही पूर्वज हैं, और आज के एकाकी के मूलतत्व मोटे रूप में इनमें भी हैं।

(Revival) की है—और नए साधनों और नयी शक्ति से की है।

भारतेन्दुकाल के अन्य एकांकी—

ऊपर हमने केवल उदाहरणार्थ एक दो एकांकियों का उल्लेख किया है, पर हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास के ज्ञाता भली प्रकार जानते हैं कि भारतेन्दुजी के समय में एक नहीं अनेकों ऐसे एकांकी लिखे गए। जैसा ऊपर विचार किया गया है ऐसे एकांकियों का नाम 'रूपक' रखा गया जिनमें अशरीरी पात्रों की शरीर-कल्पना की गयी थी पर हिन्दी में यह नियम दृढ़ न रह सका—और शीघ्र ही 'रूपक' एक प्रकार से एकांकी का पर्यायवाची हो गया—उदाहरणार्थ काशीनाथ खत्री ने तीन छोटे-छोटे एतिहासिक एकांकी लिखे और उनका नाम रखा 'तीन ऐतिहासिक रूपक।'

ऐसे रूपक, दूसरे शब्दों में एकांकी, विविध विषयों पर विविध शैलियों मे लिखे गये। इतिहास-क्रम से उनका एक संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ करा दिया जाता है।

लाला श्रीनिवास का प्रह्लाद-चरित 'एकांकी' है, इसके केवल ११ दृश्य हैं। प्रह्लाद के प्रसिद्ध चरित के आधार पर लिखा गया है। किसी विशेष नाटकीय नियम का पालन नहीं किया गया। न स्थान की इकाई है न समय की। स्वर्ग और मर्त्य दोनों के दृश्य हैं। जय-विजय के शाप से लेकर नृसिंह के अवतार होने तक की कथा को रूपक दिया गया है।

पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'प्रयाग रामागमन' नाम का छोटा-सा रूपक लिखा। प्रयाग के भारद्वाजाश्रम में राम-लक्ष्मण सीता का आतिथ्य दिखाया गया है। नाटककार ने पुरुष पात्रों से हिन्दी और सीता से ब्रजभाषा का उपयोग कराया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत नाटक-परम्परा से कुछ प्रभावित होकर हिन्दी को संस्कृत-भाषा का स्थानापन्न माना है, उसे पुरुषों की भाषा वनाया है, ब्रजभाषा को प्राकृत का स्थानापन्न। संस्कृत नाटकों में स्त्रियाँ संस्कृत नहीं बोलतीं, प्राकृत बोलती हैं।

राधाचरण गोस्वामी इस काल के कुछ प्रमुख एकांकी (रूपक) कारों मे सब से अग्रगण्य हैं। इनके एक अनुवाद का उल्लेख ऊपर किया जा

चुका है 'भारत मे यवनी लोग'; उस पर विचार भी हो चुका है—पर इन्होंने सात-आठ और भी रूपक लिखे हैं। 'श्रीदामा' नाटक का आधार सुदामा का प्रसिद्ध वृत्त है। इसे लेखक ने पाँच दृश्यों में लिखा है, प्रस्तावना अलग है। 'सती चन्द्रावली' श्रीदामा से बड़ा है। इसमें सात दृश्य हैं। चन्द्रावली को औरङ्गजेब का पुत्र अशरफ पकड़ लेता है। हिन्दुओं में घोर असन्तोष फैलता है। अशरफ के मारे जाने की सूचना मिलती है। अन्तिम दृश्य में चन्द्रावली स्वयं जल मरती है। यह एकांङ्की दुखान्त है। 'अमरसिंह राठौर' में यद्यपि अङ्क एक है, पर दृश्य पन्द्रह हैं। यह महा एकांङ्की कहा जा सकता है। 'तन मन धन श्री गोसाईंजी के अर्पण' नामक प्रहसन आठ दृश्यों में है। इसमें दुराचारी गुरुओं का भण्डाफोड़ है। उस सम्प्रदाय पर छींटे हैं जिसमें अन्धभक्त शिष्यों की बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा लूटने का प्रयत्न किया जाता है।

भरतपुर नरेश बल्देवसिंह के भतीजे के पुत्र कृष्णदेवशरणसिंह उप नाम 'गोप' ने 'माधुरी' रूपक लिखा। श्रीकृष्ण वियोग में विरह-कातरा माधुरी का वियोग-वर्णन इसमें किया गया है।

पं० बालकृष्ण भट्टजी के 'प्रदीप' में कितने ही छोटे-छोटे रूपक लिखे हैं। आरम्भ में जिस प्रहसन का उल्लेख किया गया है 'जैसा काम वैसा परिणाम'—वह भट्टजी का ही हो सकता है। उस पर लेखक का नाम न होने से इस अनुमान को स्थान मिलता है। बाबू ब्रजरत्नदासजी ने लिखा है कि "इनके (भट्टजी के) छोटे-छोटे रूपक वास्तव में उस समय के सामाजिक अनाचार पर हृदय-स्पर्शी लेख हैं, केवल कथोपकथन देकर उन्हें विशेष पठनीय बना दिया गया है।" कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह ऐसे ही रूपक हैं।

श्रीशरण नाम के एक लेखक का 'बाला-विवाह' भी एकांकी ही प्रतीत होता है। १५ अप्रैल सन् १८७४ की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में इसकी प्रस्तावना तथा प्रथम गर्भाङ्क प्रकाशित हुआ था। अङ्क का उल्लेख न होकर केवल गर्भाङ्क का है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसमें लेखक अङ्कों का

विभाजन नहीं करना चाहता, और वह केवल कुछ दृश्यों में इसे समाप्त कर देना चाहता है पर यह पूरा हुआ भी या नहीं, पता नहीं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी इस दिशा मे पीछे रहने वाले न थे। उनका 'कलि कौतुक' रूपक चार दृश्यों में समाप्त हुआ है। प्रस्तावना नहीं दी गयी। एक दोहे मे 'नन्दी' अवश्य की गयी है। व्याभिचार, मांस-मदिरा सेवन, भंड-साधुओं आदि के दुराचारों के दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें कुछ गानों का भी समावेश है।

काशीनाथ खत्री का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उन्होंने 'तीन ऐतिहासिक रूपक' लिखे। पहला रूपक 'सिन्ध देश की राजकुमारियाँ' है। इसका सम्बन्ध सिन्ध पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय की घटना से है। दूसरा 'गुन्नौर की रानी' है—भूपाल राजवंश के संस्थापक पराजित राजा की विधवा रानी का वृत्तान्त है। तीसरा है 'लवजी का स्वप्न' प्रसिद्ध कथा के आधार पर है। 'बाल-विधवा-संताप' भी एक छोटा-सा रूपक है। विधवा-विवाह का समर्थन कराया गया है।

शालिग्रामजी का 'मयूरध्वज' भी एकांकी प्रतीत होता है—'मोरध्वज' की भक्ति का प्रदर्शन इसमें कराया गया है। मोरध्वज का चरित्र प्रसिद्ध ही है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जयनारसिंह की' रूपक ग्रामीण भाषा में लिखा गया है, इसमें झाड़-फूँक द्वारा बच्चों के प्राण नाश करने की मूर्खता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

प्रसिद्ध नाटक 'महाराणा प्रतापसिंह' के लेखक ख्यातनामा नाटककार बाबू राधाकृष्णदासजी ने भी एकांकी लिखा—इसका नाम 'दुःखिनी बाला' है। इसमें छः दृश्य हैं। विषय सामाजिक है। सुशीला की जन्मपत्री न मिलने के कारण बड़े सुशिक्षित वर से शादी न होकर एक छोटे वर से शादी हो जाती है। वर जड़ है तथा शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो जाती है। सरला विधवा हो जाती है और अनेक कष्ट भोग कर विषपान कर लेती है। इसमें पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर अपव्यय का दृश्य भी दिखाया गया है।

'धर्मालाप' भी एकांकी प्रतीत होता है। इसमें प्राचीन सनातन धर्म तथा अन्य धर्मों के मानने वाले, नई पुरानी रोशनी के व्यक्तियों का कथोपकथन है।

इनके बाद उल्लेखनीय नाम 'अम्बिकादत्त व्यास' जी का है। इन्होंने 'कलियुग और घी' नाम का रूपक लिखा। कलियुग घी को चर्बी का मेल देकर भ्रष्ट करना चाहता है। उत्साह और एकता उसकी रक्षा करते हैं। 'मन की उमंग' में भी कथोपकथन है पर उसमें नाटकत्व नहीं आ सका।

पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय केवल कवि तथा उपन्यासकार और साहित्य के इतिहासकार ही नहीं, नाटककार भी हैं। आपने संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुकरण पर 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' लिखा— आपने बताया है कि "फिर यदि मम रचित इस प्रद्युम्न विजय व्यायोग में, जिसको मैंने भाषा-कवि-चक्र-चूड़ामणि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र गोलोक निवासी के संस्कृत से अनुवादित धनंजय विजय व्यायोग की छाया लेकर निर्मित किया है, महा महा अशुद्धियाँ बड़े-बड़े भ्रम हों तो कोई विचित्र बात नहीं है।"

किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' प्रहसन है। 'त्रिया चरित' की कहानी को इसमें रूपक दिया गया है।

उपरोक्त संक्षिप्त दिग्दर्शन से प्रकट होता है कि इस काल में कितने ही एकांकी लिखे गये। जिनमें से बहुत से तो केवल 'कथोपकथन' के रूप में होने के कारण ही नाटक कहे जा सकते हैं, उनमें नाटकत्व का अभाव है, कुछ ऐसे भी हैं जो नाटक ही कहे जा सकते हैं केवल अंकों में विभाजित न होने के कारण 'एकाकी' की कोटि में रखे गये हैं। पर इस सब से हिंदी में एकांकियों की एक परंपरा अवश्य प्रतीत होती है। उस समय रंगमंच का अभाव था, यथार्थतः जो कुछ भी 'रंगमंच' सम्बन्धी उल्लेख हैं वह या तो बंगला के अनुकरण पर हैं, अथवा कवि ने अपने मानसिक विकल्प से उसे उपस्थित किया है। जैसे अन्य नाटकों में वैसे ही एकांकियों में किसी नाटकीय स्टैण्डर्ड का पता नहीं चलता। कोई सुनिश्चित प्रणाली नहीं विदित होती। लेखकों ने नाटकों को केवल एक शैली भेद के रूप में ग्रहण किया,

खेलने की दृष्टि से बहुत कम नाटक लिखे गये। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक अधिक अवश्य लिखे गये पर साधारण जन को और उसकी समस्याओं को भी इस युग का नाटककार भूला नहीं, यद्यपि उसने जब साधारण जन को अपना पात्र बनाया तब उसे समाज के किसी गुण अथवा अवगुण का प्रतीक मानकर लिया और अधिकांशतः ये सभी रूपक या एकांकी, रूपक या एकांकी की कला को चमकाने के लिए नहीं लिखे गये, स्पष्टतः एक उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए लिखे गये। जो कुरीतियाँ, जो दुष्प्रवृत्तियाँ नाटककार को समाज या व्यक्ति में चुभीं उन्हीं को इन नाटककारों ने विविध रूपकों द्वारा व्यक्त कर दिया। इस काल के नाटककार के साधन भी बहुत मोटे थे, उसकी धारणायें भी बड़ी हठी थीं—उसके संस्कारों ने उसे चारों ओर से अवरुद्ध कर रखा था, जब कभी उसका मन दिल खोल कर मुक्त भाव से कुछ कहना-बोलना चाहता था तो समाज में व्याप्त जड़ता उस पर छापा मारती थी। नाटककार प्रगतिशील बनना चाहता है पर अवरुद्ध होकर रह जाता है। अधिकांशतः नवीनता के प्रति एक कड़वाहट शब्द शब्द में व्याप्त मिलती है; सामाजिक वर्तमान आचारों में भी उसे अश्रद्धा है-वह अपने को धिक्कारता भी है, भयभीत आगे भी नहीं बढ़ पाता है। द्विविधा जहाँ शैली में है वहाँ भाव में भी है। ऐसी अवस्था में जैसे एकांकी लिखे जा सकते हैं, लिखे गये। इन एकांकी नाटककारों को अन्तर-आत्म-विश्वास और रूढ़ संस्कारों से छुड़ाने की आवश्यकता थी—ये नाटककार स्वयं इस ओर प्रयत्नशील थे, पर बोझ इन पर भारी था। इस प्रकार हिंदी का एकांकी आरंभ हुआ और कई विकासावस्थाओं में होकर गुजरा।

हिन्दी में एकांकियों की विकासावस्थायें—

ऊपर के अध्ययन से विदित होता है कि हिन्दी में एकांकियों की परम्परा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से चल पड़ी थी। उस समय पूर्व और पाश्चात्य की प्रणालियों का संघर्ष था, और भारतेन्दुजी मध्यम मार्ग को प्रस्तुत करने में सचेष्ट थे। पूर्व की प्रणाली से अभिप्राय संस्कृत नाट्य-शास्त्र में दी हुई प्रणाली से है। पर पूर्व में इस समय भी जनता की स्टेज उपस्थित थी, उस

रंगमंच के कई रूप प्रचलित थे। एक प्रकार के रंगमंच पर रास और स्वांग होते थे। रास का सम्बन्ध किसी कृष्णलीला से होता था, इसकी टेकनीक बड़ी सधी-बधी थी, धार्मिक वृत्तिवाले लोगों को तो यह पसन्द आ सकती थी, साधारण जनसमुदाय अधिक काल तक इसे देखता नहीं रह सकता था। इस रास में नृत्त और संगीत की प्रधानता रहती थी, हाँ मनसुखा का चरित्र हास्य का कारण होता था जिससे उस (dull) अलस वातावरण में भी गुदगुदी पैदा होती रहती थी। रास में कृष्ण के चरित्र की कोई एक झाँकी ही दिखायी जाती थी, कभी दान-लीला, कभी मान-लीला, कभी माखन चोरी लीला। ये लीलायें कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी एकांकी झांकियाँ थीं, जो सूरदास आदि महाकवियों की रचनाओं में वार्तायें जोड़ कर तय्यार की जाती थीं, इनमें रंगमंच खुले होते थे, साधारण भूमि या तख्त, जिस पर सफेद बिछावन बिछा हुआ है। राधाकृष्ण के लिए दो ऊँचे पीठ और बस। न पर्दे, न दृश्य। पोशाकों का विन्यास होता था, पर साधारण रास के उपरान्त उसी रंगमंच और स्थल पर कोई स्वांग होता था—जैसे हरिश्चन्द्र लीला, मोरध्वज लीला, प्रह्लाद लीला। इस रंगमंच पर केवल प्रातः स्मरणीय आदर्श व्यक्तियों के चरित्र ही उपस्थित होते थे।

दूसरे प्रकार का जनता का रंगमंच था 'भगत' का रंगमंच। यह स्वाँग ही होता था, पर आदि से अन्त तक सङ्गीतमय। इसके लिए बड़ी ऊँची पाड़ पाड़ बाँधकर मंच तय्यार किया जाता था। यह मंच एक मंजिल मकान की ऊँचाई का होता था, इसकी पाड़ वर्गाकार बनती थी। एक गली की भांति चारों ओर वर्गाकार मंच विविध रंग-बिरंगे स्तम्भों और झाड़-फानूसों से युक्त, ऊपर सुन्दर वस्त्र की छत देकर तय्यार किया जाता था। रास या साधारण स्वाँग व्यवसायी मंडलियों का काम था, पर यह भगत नागरिकों का अपना उद्योग होता था। नक्कारा इसका प्रधान सहायक था और चौबोला मुख्य तरह।

हिन्दी में एकांकियों के इतिहास पर जब दृष्टि डालते हैं तो विदित होता है कि पहली अवस्था में केवल नाट्य-शास्त्र और पाश्चात्य नाटकीय

प्रणाली का ही प्रभाव नहीं पड़ा, कुछ नाटकों पर इस जन-रंगमंच का भी प्रभाव था। यह अवस्था हिन्दी के एकांकियों की प्रथमावस्था के समय ही थी—भारतेन्दु के समय में ही। अतः भारतेन्दु के समय में ही नाटकों की तीन परिपाटियाँ प्रतीत होती हैं। एक संस्कृत के नाट्य शास्त्र के अनुकूल, दूसरे पाश्चात्य प्रणाली के अनुकरण पर, तीसरे जन-रंग से प्रभावित। हिन्दी के एकांकियों की प्रथमावस्था भारतेन्दु काल में है।

इस काल में भारतेन्दुजी की रचनाओं की प्रधानता तो मानी ही जायगी। उनकी प्रेम-योगिनी, नीलदेवी, विषस्य विषमौषधम, 'वैदकी हिंसा हिंसा न भवति', भारत दुर्दशा, भारत-जननी, नीलदेवी, प्रेम-जोगिनी, सतीप्रताप, एकांकी नाटक ही हैं। यह ध्यान देने की बात है कि भारतेन्दुजी के लिखे मौलिक नाटकों में से 'चन्द्रावली और अन्धेर नगरी' तो नाटक है, शेष सब एकांकी। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में लिखे तो गये हैं 'अङ्क' पर ये 'अङ्क' यथार्थ में 'दृश्य' ही हैं। इस समय 'दृश्य' के लिए किस शब्द का प्रयोग किया जाय यह किञ्चित अनिश्चित था। 'गर्भाङ्क' का प्रयोग 'दृश्य' के लिए ही होता था, 'सतीप्रताप' में भारतेन्दुजी ने 'गर्भाङ्क' का प्रयोग किया है। 'दृश्य' शब्द का भी प्रयोग होता था, नीलदेवी में 'दृश्य' का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः सबसे पहले 'अङ्क' शब्द को ही 'दृश्य' का पर्याय माना गया होगा! संस्कृत नाटकों में 'अङ्क' का विधान तो होता है, 'दृश्य' का नहीं। फलतः नयी प्रणाली की नाटक योजना में 'अङ्क' को वही स्थान दिया जा सकता था जो दृश्य को है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के तीन अङ्क इतने लघु व्यापार के प्रदर्शक हैं कि वे 'Act' के पर्याय 'अङ्क' के द्योतक नहीं हो सकते। 'वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दुजी का पहला मौलिक नाटक है, उस समय नयी और पुरानी परिपाटी के सामाजस्य का कोई मार्ग ढूढ़ने के लिए वे व्यस्त होंगे। उन्होंने तब 'अङ्क' को 'दृश्य' अर्थ में ग्रहण कर लिया होगा। तब, बाद के विचार से 'अङ्क' को Act का अर्थवाचक और गर्भाङ्क को Scene का पर्याय माना गया। फिर 'दृश्य' शब्द का ही उपयोग कर डाला। 'वैदिक हिंसा हिंसान भवति' एकांकी नाटकों

का पूर्वरूप है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' भी। प्रो० ललिताप्रसाद शुक्ल ने 'नीलदेवी' का संपादन करते हुए उसकी भूमिका में लिखा है :

"अब प्रश्न है शास्त्रोक्त नियमों के पालन का। जैसे ऊपर कहा जा चुका है रूपक का यह भेद: या उपभेद प्राचीन नहीं है, अतः प्राचीन शास्त्र में उसके नियम खोजना व्यर्थ है। इसमें हम देखते हैं कि अङ्कों के आधार पर इसका विभाजन नहीं हुआ है वरन् केवल दस दृश्यों मे इसकी सामग्री पेश की गई है। यह एक विशेष नवीनता है। यदि इसे आधुनिक एकांकी का पूर्व रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा।"

अङ्क में विभाजित न कर दृश्यों में विभाजित करना एक विशेष नवीनता बतायी गयी है, पर यह नवीनता नहीं। यह तो प्रथा उस समय प्रचलित हो गयी थी—और निस्संदेह यह हिन्दी के एकांकियों की प्रथमावस्था है। 'नीलदेवी' में हमें न तो सूत्रधार के दर्शन होते हैं, न नान्दी के। पहले दृश्य में तीन अप्सरायें गाती हैं;—दो गीत हैं—पहले में भारत की क्षत्राणियों की स्तुति है, यह नाटक का मूल संदेश है। दूसरे गीत मे प्रेम की बधाई है। इन अप्सराओं का शेष नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरा दृश्य कथारम्भ करता है। बिना किसी भूमिका के नाटक में गति का आरम्भ हो जाता है। हमें इस दृश्य में एकदम विदित होता है कि सूरजदेव राजपूत से शरीफ परेशान है, और यह निश्चय करता है कि लड़कर फतह पाना मुश्किल है, किसी रात को सोते हुए उसे गिरफ्तार कर लाना है। नाटक के कथा-सूत्र का एकदम इस प्रकार गतिवान हो जाना 'एकाकी' का सब से प्रमुख लक्षण है, जो हमें नीलदेवी में मिलता है। 'नीलदेवी' में पारसीस्टेज का भी किंचित प्रभाव दिखायी पड़ता है:* आरम्भ मे अप्सराओं द्वारा गायन, तथा स्थान-स्थान पर संगीत का प्रयोग। 'भारतदुर्दशा' को भारतेन्दुजी ने 'नाट्यरासक' वा, 'लास्यरूपक' नाम दिया है। इसमें नांदी तो नहीं मिलता, मंगलाचरण अवश्य मिलता है, पर यह मंगलाचरण नाटक का उस प्रकार कोई भाग नहीं जिस प्रकार नान्दी

---

* इसको (नीलदेवी को) 'गीतरूपक' नाम दिया गया है। इसी से यहा अभिप्राय है।

होता है। पर 'प्रथम दृश्य' रूप में नीलदेवी के प्रथम दृश्य के समान है। इसमें एक योगी आकर एक गीत द्वारा भारत की दुर्दशा की ओर संकेत करता है, और प्रथम दृश्य समाप्त हो जाता है, इस योगी का शेष नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

भारतेन्दुजी के अधिकांश एकांकियों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें संस्कृत शैली का अनुकरण नहीं मिलता। जिन विद्वानों ने यह आरोप उन पर किया है, उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली। इनका विषय मुख्यतः भारत के गौरव का ज्ञान, उसकी दुर्दशा पर रोना, तथा भारत के राष्ट्रीय कल्याण की आशा-निराशा का द्वन्द्व—भारतेन्दुजी में फिर भी भारत के सम्बन्ध मे भविष्य संबंधी दुःखद भाव ही प्रधान थे। 'भारत दुर्दशा' में भारत मूर्च्छित है, और भारत भाग्य उसे छोड़ जाता है। नीलदेवी में यद्यपि नीलदेवी का शौर्य वरेण्य और श्लाध्य दिखाया गया है, किन्तु सूर्यदेव को एक देवता ने जो भविष्यवाणी सुनाई, उससे नाटक में प्रदर्शित नीलदेवी की वीरता और शरीफ का घात कर डालना भी किसी प्रकार नाटक को अवसाद से बाहर नहीं निकाल सके। "सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा। अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा" से समस्त नाटक पर दुःख की छाया लम्बी होकर जा पड़ी है।

इन नाटकों का तन्त्र बहुत सीधा-सादा है। नाटककार ने एक कथा-भाग की कल्पना करली है, उसमे से उसने कुछ दृश्य चुन लिए हैं और उन दृश्यों को अपने अन्दर पूर्ण बनाकर इस प्रकार उनको व्यवस्थित कर दिया है कि कथा-सूत्र सम्बद्ध प्रतीत हो। कहीं कहीं महत्वहीन दृश्यों का भी समावेश है। वह दृश्य या तो पूर्व की घटना और आगे आने वाली घटना में समय का विशेष व्यवधान उत्पन्न करने के लिए, अथवा शूद्रपात्रों वाले विष्कुंभक की तरह किसी स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए। नीलदेवी में सराय का दृश्य साधारणत. कोई कथा-सूत्र-सम्बन्धी महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार कथा-सूत्र दृश्यों में हलके हलके आगे बढ़ता चला जाता है। एक भारी घटना घटित होती है, जिससे नाटक का अणु-अणु कांपने लगता है, और नाटक समाप्त हो जाता है। भारतेन्दुजी के एकांकियों में दृश्य के स्थान बदलते हैं, समय का भी कोई निबंधन विशेष नहीं प्रतीत होता।

भारतेन्दुजी के स्वतन्त्र एकांकी नाटकों की यही व्यवस्था है। अतः भारतेन्दुजी को हिंदी का प्रथम एकांकीकार मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आज के विकसित एकांकियों की साहित्यधारा में जो प्रथमावस्था हो सकती है वह भारतेन्दुजी में हमें स्वतः मिलती है। यद्यपि एकांकी के नाम से भारतेन्दुजी परिचित नहीं थे, और उसे साहित्य का अलग अंग नहीं मानते थे।

'विषष्य विषमौषधम्' नामक भाण को हम संस्कृत प्रणाली का एकांकी कह सकते हैं।

भारतेन्दुकाल—हिन्दी नाटकों की प्रथमावस्था—बालकृष्ण भट्ट आदि के साथ महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग के प्रथम भाग तक जा पहुँचता है और अपनी परंपरा को सुरक्षित रखता है—यह एकांकियों की परंपरा वहाँ तक टूटती नहीं।

तीसरी प्रणाली के एकांकी इस भारतेन्दुकाल में उन नाटककारों ने लिखे जिन पर जन-रंगमंच का प्रभाव पड़ा, यद्यपि वह बहुत गहरा नहीं दिखाई पड़ेगा, पर जैसे विन्यास, तंत्र और वाणी-विलास में वह जहाँ तहाँ झंकृत हो उठता है। इसके लिए लाला श्रीनिवासदास जी का 'प्रहलाद चरित्र' नाटक उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। यह नाटक एकांकी है, और इसमें ग्यारह दृश्य हैं। इसमें तीसरा दृश्य पाठशाला का है। पात्र हैं षण्डामर्क, प्रह्लाद और कुछ विद्यार्थी। दृश्य यों आरंभ होता है।

षण्ड—(विद्यार्थियों से) देखो, हम कहें जैसे बोलते जाओ।

सब विद्यार्थी—अच्छा गुरु आप कहोगे जैसे बोलेंगे।

षण्ड—बोलो ओनामासी धं।

सब विद्यार्थी—बोलो ओनामासी धं।

षण्ड—अबे! बोलो क्यों बोलते हो?

सब विद्यार्थी—अबे बोलो क्यों बोलते हो।

× × × ×

षण्ड—ओनामासीधं।

पराड—(दो तीन बेंत मार कर) हाँ पाँडे की टूटी टंग, देख बच्चा पाँडे की टूटी कि तेरी टूटती है (और दो तीन बेंत जड़ देते हैं)

विद्यार्थी—(पपोलते २ सिकुड़ कर) अरे गुरुजी मरे, गुरुजी मरे, हाय हाय…… ।

पराड—अबे गुरुजी मरे कि तू मरा ?……

इस दृश्य में यहाँ एक ऐसा मुक्त वातावरण है और बातों का एक ऐसा रूप है जिसमें किसी प्रकार का रंगमंचीय तकल्लुफ नहीं दिखायी पड़ता। स्पष्ट ही एक स्वाँग के क्षेत्र का हलकापन यहाँ झाँक रहा है। नाटक का पहला दृश्य प्रस्तावना स्वरूप है, पर इसमें कहीं भी पट-परिवर्तन, पर्दा उठने या गिरने का कोई संकेत नहीं। दृश्यों में विविध कठिन प्रसाधनों का उल्लेख तो है : श्मशान में चिता का, समुद्र का, हनुमान की पीठ पर आकाश से राम के आने का—पर 'नैपथ्य' का कहीं प्रयोग नहीं हुआ। अतः यह एकांकी नाटक जन-रंगमंच से प्रभावित प्रणाली का है और भारतेन्दु काल में ऐसे एकांकी कई लिखे गये।

यह प्रथमावस्था संवत् १९३० से, जब कि भारतेन्दुजी ने हिन्दी का प्रथम मौलिक एकांकी नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा, प्रसादजी के 'एक घूँट' लिखे जाने से पूर्व तक मानी जानी चाहिए। प्रसादजी का एक घूँट १९८६ संवत् में प्रकाशित हुआ।

दूसरी अवस्था—

दूसरी अवस्था सं० १९८६ या सन् १९२९ से आरम्भ होकर सन् १९३८ तक मानी जानी चाहिए।

प्रसादजी का 'एक घूँट' हिन्दी के एकांकियों के विकास की द्वितीय अवस्था का अग्रणी है। इस नाटक के सम्बन्ध में दो विरोधी मत मिलते हैं—

'एक घूँट' सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। इसका कथानक भी ऐतिहासिक है। यह सफल एकांकी नाटक है। जीवन की विनोदपूर्ण और काव्यमय झाँकी हमें यहाँ मिलती है। प्रसादजी के एकांकी संस्कृत की परिपाटी से ही अधिक प्रभावित रहे। प्रसादजी पथ-प्रदर्शक के रूप में हिन्दी-

भाषा-भाषियों के सम्मुख उपस्थित न हो सके। हिन्दी-साहित्य के पश्चिम के से एकांकी के जन्मदाता प्रसादजी नहीं हैं।' यह मत प्रोफेसर अमरनाथ गुप्त का है। इस मत में कई भ्रमपूर्ण कथन हैं, इसका कथानक भी ऐतिहासिक है। कैसे ऐतिहासिक है यह नहीं बताया गया? 'एक घूँट' में कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है। यह इतना भी ऐतिहासिक नहीं है जितना भारतेन्दुजी का 'नीलदेवी'। इसे सफल एकांकी माना है। फिर ये पथ-प्रदर्शक क्यों नहीं बन सके?

इसके विरुद्ध प्रो॰ नगेन्द्र का मत है—

"परन्तु सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूँट' से ही हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' मे पूरा निर्वाह है—उतना ही जितना कमलाकान्त के 'उस पार' में—हाँ, उसमें प्रसादत्व का गहरा रङ्ग अवश्य है।"

प्रोफेसर नगेन्द्रजी का यह कहना यथार्थ है कि 'एक घूँट' में एकांकी की वर्तमान टेकनीक का निबाह हुआ है। उसमें संस्कृत से कुछ भी नहीं लिया गया, यह निर्विवाद है। हाँ चरित्रों का और वातावरण का जो रूप प्रस्तुत होता है वह किसी आश्रम का जैसा लगता है, पर जो संघर्ष उपस्थित है उसकी आत्मा का रूप बिल्कुल आज का ही है। 'एक घूँट' में दृश्य परिवर्तन नहीं होता। नाटक जिस स्थल पर आरम्भ होता है, वहीं समाप्त भी होता है, समय का संकलन भी निर्दोष है, पूरे नाटक की घटना में उतना ही समय लगेगा जितना यथार्थतः ऐसे वृत्त में लगता। यह दूसरी बात है कि पात्रों की वाह्य गति, और वातावरण की एक स्थिरता की अपेक्षा, वहाँ अन्तर-धारा की भांति जो विचार बहे हैं उनमें समय विशेष दीर्घ होकर व्याप्त हुआ है—दूसरे शब्दों में बाहर उठने बैठने चलने-फिरने में आरम्भ से अन्त तक जितना समय नाटक की कथा में व्यतीत होता है, अन्तर-धारा को आरम्भ से अन्त तक अपनी सब स्थितियों में होकर पहुँचने में अधिक समय चाहिए। फिर 'एक घूँट' में किसी घटना के अनायासित उद्घाटित होने से उत्कर्ष की समाप्ति नहीं हुई—जो संघर्ष आरम्भ हुआ है वह धीरे-धीरे शक्तिवान होता

गया है। अन्त में एक पक्ष अनुभूति के आधार पर निर्बल होकर क्षुब्ध हो गया है, और दूसरा पक्ष प्रबल होकर चरमोत्कर्ष पा गया है, नाटक समाप्त।

दृश्य की एक स्थलीयता हम आरम्भकालीन एकांकियों में भी देख आये हैं, और यह (conception) विचार बंगला की ओर से आया, यह भी देख चुके हैं। विकास अब किस ओर होना था : पात्रों का चरित्र विशेष मनोवैज्ञानिक हो, नाटकों की घटनायें संघर्षों में परिणत हो उठें, वाक्-वैदग्ध्य प्राणवान हो उठे, एक निखार और परिमार्जन अणु-अणु में उद्भासित हो उठे, गति मार्मिक हो उठे, अस्वाभाविक प्रसाधन-न्यूनतम हो जायँ। प्रसादजी से हमें ये सब प्रवृत्तियाँ उभरती हुई दीखती हैं।

'हंस' के १९३८ के 'एकांकी' विशेषाङ्क में हिन्दी के एकांकियों पर प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने एक दृष्टि डाली थी। उसमें उन्होंने १९३८ के पूर्व के एकांकीकारों में और एकांकियों में प्रसादजी का 'एक घूँट' सफल एकांकी बताया था। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त और सुदर्शनजी के सम्बन्ध में सूचना दी थी कि इन्होंने मासिक पत्रों में अनेक एकांकी नाटक लिखे। भुवनेश्वर का कारवाँ इस समय तक प्रकाशित हो चुका था, उसका प्रकाशन वर्ष १९३५ है। श्रीयुत् पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' को भी गुप्तजी ने एकांकी मान लिया था—वह मैं समझता हूँ भूल से ही हुआ था। 'दुविधा' तो छोटा नाटक है। श्री० सज्जादजहीर के राजनीतिक नाटकों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। श्री० रामकुमारजी वर्मा के संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' भी इस १९३८ से पूर्व की है। इनके अतिरिक्त भी और कितने ही व्यक्ति थे जिन्होंने इस काल में एकांकी नाटक लिखे।

इस काल में एकांकी नाटक लिखने के दृष्टिकोण में अन्तर हो गया था, प्रथमावस्था के एकांकीकारों में 'एकांकी' लिखने का संकल्प न था, वे नाटक लिखना चाहते थे, उसकी छोटी कथा हुई तो वह एकांकी हो गया। अब तक 'एकांकी' ने नाटकों से अलग अपना कोई स्थान नहीं बना पाया था। इस दूसरी अवस्था में 'एकांकी' सम्बन्धी यह चैतन्य जाग्रत हो उठा था—इस परिवर्तन की ओर व्यक्तियों और विद्वानों का लक्ष्य था। १९३३ ई० में

प्रकाशित राजस्थानी-भाषा में एक एकांकी 'वौलावण या प्रतिज्ञा-पूर्त्ति' प्रकाशित कराते हुए स्व० श्री सूर्यकरण पारीक एम० ए० ने प्राक्कथन में यह तथ्य प्रकाशित किया था कि—

'जीवन की दौड़ में निरन्तर व्यस्त रहने वाले आधुनिक मानव-समाज के लिए समय का मूल्य बहुत अधिक बढ गया है। अब बड़े-बड़े नाटकों, उपन्यासों और महाकाव्यों को सम्पूर्णतः पढ़ने और सुनने अथवा देखने के लिए न तो अवकाश ही मिलता है और न मानव-समाज की शतधा विभक्त अभिरुचि ही धैर्य करके स्थायी रूप से उन पर ठहर सकती है। कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। परिणामतः आधुनिक लोकरुचि एकाकी नाटक और नाटिकाओं की ओर, उपन्यासों के स्थान में गल्पों और छोटी कहानियों की ओर, महाकाव्य के बदले मुक्तक कविताओं अथवा गीतों की ओर प्रवृत्त हो गई है।"—समाज की इस मानसिक स्थिति में सहयोग दिया 'रेडियो' के प्रोग्रामो ने। रेडियो के प्रोग्रामों को रोचक बनाने के लिए एकांकियों जैसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत हुई। 'बंगला' के रवीन्द्र बाबू का प्रभाव भी इधर बहुत पड़ रहा था, उनके 'मुक्तधारा' नामी एकांकी के कई अनुवाद हिन्दी में हुए। अंग्रेजी का प्रभाव सब से गहरा था। उसमें एकाकी की टेकनीक ने अलग विकास इस समय तक कर लिया था। हिन्दी लेखक के सर्जक मानस पर इन सभी प्रेरणाओं का इस समय उत्तेजन हो रहा था—एकांकी सम्बन्धी चैतन्य धीरे धीरे प्रबल हो रहा था। पर यह नही माना जा सकता कि यह प्रेरणा उस समय के सभी एकांकी नाटककारों में थी। १६३८ के बिलकुल निकट में लिखते हुए—१६३७ मे इन पंक्तियों के लेखक ने 'कुनाल' को 'एकांक' का नाम दिया था और वह उसकी अपनी नाटक-कल्पना के विकास का एक स्वाभाविक प्रदर्शन था। यों तो इस लेखक ने १६२१–१६२२ में ही एक ४–५ दृश्यों का एकांकी लिखा था, जो बालचरों की बाँस और चद्दरों की बनायी स्टेज पर तीन-चार बार आगरा में सफलता-पूर्वक खेला गया। और एक बार रंगीन पर्दों पर मथुरा में भी खेला गया। उस समय वह 'एकांकी' का नाम भी नहीं जानता था। उत्सव में ३०-३५ मिनट का उपदेश-प्रद मनोरंजन बालचरो के उद्देश्य को प्रकट करने के लिए एक

कथानक की छोटी कल्पना की गयी, उसे ४-५ दृश्यों में विभाजित कर दिया। वैसी ही प्रेरणा से लिखा हुआ 'कुनाल' १९३७ में प्रकाशित हुआ। अतः इस काल में हमें तीन प्रकार के एकांकीकार मिलते हैं—

एक वे जिन्होंने प्रमाद की तरह अपनी कल्पना के छोटे कथानक को कुछ अपनी प्रेरणा से, कुछ बंगला की से एक छोटे कथानक का रूप दे दिया और उसमें सहज सुन्दरता लाने के लिये अपनी प्रेरणा से ही संकलन-त्रयी (Three Unities) का रक्षा करने का उद्योग किया।

इसी समुदाय में उन लोगों को भी सम्मिलित किया जायगा जिन पर बंगाली प्रभाव तक नहीं पड़ा और जिन्होंने अपनी कल्पना के कथानक या ऐतिहासिक कथानक को एकांकी के रूप में प्रस्तुत करना चाहा और जिन्हें एकांकी की टेकनीक का नाटक की टेकनीक से अलग कोई ज्ञान न था। सूर्यकरण पारीक, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि इसी समुदाय में आते हैं।

दूसरे वे जिन्होंने एकांकी की टेकनीक को, उसके साहित्यिक मूल्य को समझा, गुना और लिखा। इतना ही नहीं, जिन्होंने विषय वस्तु को भी पाश्चात्य से लिया, जिनके तर्क पाश्चात्य के अनुवाद-बने, जिनकी कथायें पाश्चात्यों को दी हुई तीलियों से खड़ी हुई, जो पाश्चात्यमय हो उठे, उदाहरण के लिये 'भुवनेश्वर'।

तीसरे वे जिन्होंने एकांकी की टेकनीक को तो पूरी तरह समझा, पर उसे अपनी मौलिक वस्तु के लिए पोशाक की भाँति काम में लिया। टेकनीक पाश्चात्य पर अपना बुद्धिवाद और अपनी कथा और अपना ही तर्क। डा० रामकुमार वर्मा को इस वर्ग के उदाहरण की भाँति उपस्थित किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी अवस्था के एकांकी नाटक भी बिलकुल पाश्चात्य प्रणाली की नकल नहीं, न उसी की प्रेरणा के उतने फल हैं जितना उन्हें बताया जाता है। जैसे सब ओर विचार-धाराओं और शैलियों पर पाश्चात्य का प्रभाव पड़ रहा है, और पड़ा है, उसी प्रकार एकांकी पर भी

और भारतेन्दु के समय से सन् १६३७ तक उसकी विकसित होती हुई अविच्छिन्न परम्परा हमे मिलती है। जिसे द्विवेदी युग कहते हैं उसमें एकांकी नाटकों का लिखना कुछ मन्द था—प्राय: १६०० से १६३० के लगभग तक। एकांकी को अब तक शैली के एक भेद की भाँति ग्रहण किया जाता था, पत्र-पत्रिकाओं में प्रेमचन्द के प्रादुर्भाव से कहानियों के लिए बड़ी तीव्र चसक पैदा हो गई थी। एकांकी लिखने वाला अब तक जिस सामग्री से लिखता आया था, वह इस युग मे कहानो की रोचकता के सामने नहीं टिक पाती। फलतः उतना आकर्षण नही रहा था। फिर भी धारा मन्द होते हुए भी प्रवाहित थी।

एकाकियों की रचना में इस काल में एक और तत्व ने भी सहायता दी। कालेजों, स्कूलों आदि में विशेष उत्सवों पर मनोरंजन के लिए ऐसे अभिनयों को आवश्यकत प्रतीत होती थी जो ३०-३५ मिनट में समाप्त हो सकें। 'करुण पुकार' की 'कुछ अपनी' में सूर्यदेवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है—

'स्कूलो में, वर्ष में एक बार, पारितोषिक वितरणोत्सव हुआ करता है। उस अवसर पर बिलकुल थोड़े समय में कुछ दृश्य दिखलाये जाते हैं। लेकिन इस मौके के लिए मौजूद चीज हमारे यहाँ कतई नहीं है। अतः शिक्षकों को बड़ी कठिनाई होती है और उनके लिये केवल एक ही चारा बाकी रह जाता है। वे किसी नाटक के कुछ दृश्य काटछाँट कर रख देते हैं, किन्तु वह अधकटा लगता है। इसीलिए मुझे अपनी कलम की शरण लेनी पड़ी।' ऐसी परिस्थिति में न जाने कितने अज्ञात नाटककारों के नाटक लिखे गये होंगे और खेल लिए जाने के बाद चूहों और दीमकों का भोजन बन कर अन्धकार में विलीन रह गये होगे। डा० रामकुमार वर्मा के, बाद के नाटक भी ऐसे ही अवसरों पर खेलने के लिए लिखे गये।

तीसरी अवस्था—

हिन्दी एकांकी के विकास की तीसरी अवस्था १६३८ से मानी जानी चाहिए। 'हंस' के 'एकाकी-अङ्क' से एक विवाद उठ खड़ा हुआ, वह हिन्दी नाटककारों के मन के अन्तर-संघर्ष का द्योतक था। १६३८ से पूर्व तक नाटककार के मन में यह प्रश्न था कि एकाकी

क्या और क्यों ? यद्यपि काफी योग्य कलाकारों ने एकाकी को जयतव छू दिया था, तब भी वह सोचता था कि इधर बढ़ूं या नहीं ? यह संघर्ष 'हंस' के 'एकाकी अंक' ने उभार कर रख दिया। काफी विवाद रहा; —कहा गया—एकाकी का अलग कोई स्थान नहीं, उसकी कोई टेकनीक नहीं, वह कहानी का ही रूपान्तर है। और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने तो एकांकी के लिए बड़े ही कटु शब्द कह डाले। उन्होंने लिखा—

"लाहौर में विज्ञापनबाजी का एक अनोखा ढंग मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ। संभव है कि वह ढंग और भी बहुत जगह बरता जाता हो, फिर भी मैं उसे 'अनोखा' इसलिये कह रहा हूँ कि दो विशेष व्यक्तियों ने यहाँ उसे बहुत आकर्षक बना रखा है। कोई दो व्यक्ति हैं, एक बड़ी उम्र का लम्बा-चौड़ा पुरुष और दूसरा एक बालक, संभव है वे परस्पर सचमुच चचा-भतीजे हों, क्योंकि अपना परिचय वे इसी प्रकार देते हैं। जिस बेतकल्लुफी का व्यवहार वे एक दूसरे से करते हैं, उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वे पिता-पुत्र तो हो ही नहीं सकते। और यह भी संभव है कि उनमें परस्पर केवल व्यावसायिक सम्बन्ध ही हो। अनारकली-बाजार में आप उन्हें प्रतिदिन एक-दूसरे के सामने खड़े होकर बहुत ऊँची आवाज में बातें करते हुए पायेंगे। उनकी बातचीत का विषय भी प्रतिदिन क्या होता है ? कभी वे जूतों के बारे मे बातें कर रहे होते हैं, कभी कपड़ों के बारे में और कभी दवाइयों के बारे में ही। दोनों की पोशाक भी कुछ निराली-सी होती है। अपने चाचा से पाँच-छै कदम की दूरी पर खड़ा होकर बालक सवाल करता चला जाता है और चचा साहब आवश्यक भाव भंगी के साथ जवाब देते जाते हैं। इस बातचीत में विज्ञापनीय वस्तु की खूबियाँ, प्रयोग, कीमत और मिलने का पता आदि सभी कुछ श्रोताओं के कर्ण-गोचर कर दिया जाता है।" ऐसा ही एकांकी नाटक है।

इस विवाद का परिणाम शुभ ही हुआ। एकांकी ने अपने समस्त विरोध के बाद भी अपना ऊँचा स्थान साहित्य में बना लिया, इस विवाद के बहाने उसकी अलग टेकनीक के अस्तित्व का ज्ञान भी हुआ और जो

अस्पष्टतायें कहीं-कहीं लेखकों में एकांकी के सम्बन्ध में विद्यमान थीं वे स्पष्ट हो गयीं। नयी गति और नई आस्था के साथ एकांकी ने साहित्य-क्षेत्र में क़दम बढ़ाया और कितने ही टेकनीक कुशल व्यक्तियों ने, जिन्होंने टेकनीक का अध्ययन और मनन किया था, एकांकी को ऊँचे धरातल पर पहुँचाने की चेष्टा की। इसी कोटि के नाटककारों में श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास आदि रखे जा सकते हैं।

इस काल में अनेकों नये-नये विषय आजमाये गये, नये-नये प्रकार एकांकियों के ढूँढे गये और उनमें भाँति-भाँति के एकांकी लिखे गये। जो पाश्चात्यत्व दूसरी अवस्था के कुछ एकांकीकारों में बहुत अधिक उभर और उतरा रहा था, वह हिन्दी के एकांकीकार की प्रवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी रचना में घुल-मिल कर एक रस हो गया और उसकी रचना का स्वाभाविक अंग बन गया। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रगतिवाद इस काल के एकांकीकारों पर प्रभाव डालने लगा था, कुछ अपवाद इस युगधर्म को सिद्ध ही करते हैं। पर इस अवस्था में प्रगतिवाद की उपयोगिता-परक प्रेरणा भी एकांकीकार को कलाकार के प्रतिष्ठित पद से पद-च्युत नहीं कर सकी। उसने उपयोगिता के साथ कला की रक्षा की और उसके उत्कर्ष में सहयोग दिया। यह अवस्था ४०-४१ तक रही।

चौथी अवस्था—

४०-४१ के निकट से, युद्ध के प्रबल होने और रूस के उसमें सम्मिलित हो जाने के उपरान्त से चौथी अवस्था का आरम्भ होता है। तीसरी अवस्था में इन नाटकों में जो कलामय प्रयोग हुए थे, जिस बुद्धिवाद का प्राबल्य हुआ था, वाक्-वैदग्ध्य (wit) के सुन्दर मर्मस्पर्शी स्थलों की उद्भावना हुई थी, और एकांकी नाटक हिन्दी में भी अपनी स्थानीय प्रवृत्तियों के अनुसार टेकनीय ग्रहण करता जा रहा था—वह सब इस चौथी अवस्था में शिथिल हो चला है, बात कहने की ओर आकर्षण है, उसे कैसे कहा जाय इस ओर कम। विदेशी विशेषकर रूसी अनुवाद फिर ज़ोर पकड़ रहे हैं। तीसरी अवस्था में मानव, समाज और प्रकृति के मूलभूत तत्वों पर जो बुद्धिवादी आक्रमण हुआ था, वह अब नहीं मिलता। बिल्कुल सामयिक और

स्थूल समस्याओं, प्रश्न और आवश्यकताओं ने एकांकीकार को आकर्षित कर लिया है, और वह इस स्थूलता से उन्हे प्रकट भी करने लगा है। वह एकांकी को उस कला के माध्यम में प्रकट करना चाहता है, जो तथाकथित कलाकारों को चाहे कला का माध्यम न प्रतीत हो पर, जन साधारण-अशिक्षितों के लिए एक माध्यम बन सके। भुखमरी, बम वर्षा, युद्ध कालीन जीवन, अपनी रक्षा, युद्ध में सहायता, रूस-चीन की विजय आदि मुख्य विषय हैं जिनमें किसान, मजदूर, सिपाही, व्यापारी आदि पात्र बन कर आते हैं। तीसरी अवस्था के पाश्चात्य-सभ्यता में रंगे पढ़े-लिखे एक विशिष्ट सभ्य वर्ग के ड्राइङ्ग रूमों का लोप हो चला है। जो थोड़ी बहुत रंगीनी नाटककार की तूलिका में थी वह अब कम दिखाई पड़ती है, नाटककार को अपनी व्यस्तता में और आतङ्क-त्रास में उसके लिए अवकाश नहीं प्रतीत होता।

यह चौथी अवस्था आज चल रही है।

भाग २
एकांकीकार और एकांकी

भुवनेश्वर

हिन्दी के एकांकियों के नवोत्थान में जो पाश्चात्य भावों की उग्रता को हिन्दी के एकांकियों द्वारा प्रस्तुत करता है वह भुवनेश्वरप्रसाद है। इसके भावों पर, विचार प्रणाली पर बर्नार्डशा का पूरा-पूरा प्रभाव है। 'कारवाँ' नाम के एकांकियों के संग्रह में इनके छः एकांकी हैं। १—श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना, २ एक साम्यहीन साम्यवादी, ३ शैतान, ४ प्रतिभा का विवाह, ५ रोमांस रोमांच, ६ लाटरी।

'कारवाँ' के 'प्रवेश' में अन्त में कोष्ठक लगाकर नाटककार ने लिखा है—

(लिखने के बाद मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे 'शैतान' के एक सीन में

'शा' की छाया तनिक मुखर हो गई है, मैं इसे निर्विवाद स्वीकार करता हूँ।)

प्रोफेसर अमरनाथ गुप्त एम० ए० ने इनके सम्बन्ध में लिखा है:—

'इब्सन और शा इनके गुरु हैं'। इनके 'श्यामा' पर तो, उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, शा के Candida की छाप पड़ी है। इतना ही नहीं। इनकी प्रत्येक कृति पश्चिम का स्मरण दिलाती है।

'प्रवेश' में आये कुछ वाक्यों के सम्बन्ध में प्रोफेसर गुप्त ने कहा है— "यहाँ पर D. H. Lawrence की ट्रेजडी की परिभाषा का उनके कथन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। यही नहीं दोनों में केवल विचार साम्य हो वरन एक दूसरे का अनुवाद मात्र हैं।"

इस प्रकार भुवनेश्वरजी पर सीधा पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त उभरा हुआ पड़ा है। 'शैतान' एकांकी के अन्त में जो स्टेज-संकेत निर्दिष्ट किया गया वह इस प्रभाव को बड़े उग्र रूप में प्रस्तुत करता है। वहाँ लिखा है:—

(राजेन उस मृत्यु से शीतल हाथ को अपने गर्म ओठों तक ले जाना चाहता है; पर सहसा वह हाथ छुड़ाकर उसके गले में बाँह डालकर उसके ओठों को चूम लेती है और आहत होकर गिर पड़ती है।)

पुलिस सार्जेन्ट, दो सिपाही, एक घर का नौकर इनके समक्ष तीव्र से तीव्र आवेग में भी घोर पाश्चात्य सभ्यतावादिनी भी भारतीय रमणी अपने प्रेमी को ओठों को न चूमेगी। लेखक पर पाश्चात्य प्रभाव इतना अधिक है कि वह कभी-कभी भूल जाता है कि भारतवर्ष के लिए लिख रहा है। उसके भारतीय नाम सारे एकांकी को अवास्तविक रूप दे देते हैं। 'श्यामा' में वैवाहिक विडंबना का चित्र है, विवाह के द्वारा दो ऐसे प्राणियों को जोड़ दिया जाता है, जिनमें कोई साम्य नहीं मिलता—मनोज ने मिस्टर पुरी से जो सीधा प्रश्न किया है, वह प्रश्न समस्त विवाहित समुदाय के लिए हो सकता। 'तुममें और उसमें क्या समानता है, तुम किस प्रकार उसके योग्य हो?' 'तुम उसे प्यार करते हो और तुम इस विडम्बना को अपने जीवन का अङ्ग बनाए हुए हो।' 'तुम जो केवल अपनी शारीरिक वासनाओं को तृप्त करना चाहते हो। तुम उसे प्यार करते हो?' इस प्रकार वैवाहिक विडम्बना सिद्ध की गयी है। 'एक साम्यहीन साम्यवादी' में उस व्यक्ति की झाँकी दिखायी गयी है, जो

साम्यवाद के लिए उद्योग करता है, जिसका जीवन-क्रम अमीरों का सा है— वे एक मजदूर की स्त्री पर हाथ साफ करना चाहते हैं और सफल होते हैं। वह मजदूर कितने स्पष्ट शब्दों में सारी स्थिति समझा देता है—"मैं समझ गया, तू नहीं समझी ! (उत्तेजित होकर) अगर मैं न समझता तो खून हो

जाता, मेरे गले में रस्सी होती"......"मेरी सब समझ में आया, मैं और वकील साहब बराबर हैं, मेरे पास रुपया नहीं है, जिन्दा रहने के लिए उनके रुपये की मुझे जरूरत है, मेरी जोरू......"—सुन्दर जैसे

अपनी जोरू का वकील साहब के रुपये से विनिमय करता है—जब नहीं सह सकता तो कहीं लुप्त हो जाता है—शायद आत्मघात के लिए। इसमें वातावरण का विधान ठीक रूप में हुआ है। मजदूर—भूखे और असहाय, उधर वकील धनी पर साम्यवाद का प्रचारक। मजदूर भी साम्यहीन साम्यवादी है—पर स्त्री को विनियम योग्य पदार्थ की भाँति प्रस्तुत किया गया है, स्थिति की यथार्थकटुता को तीव्र करने के लिए, निम्न वर्ग में इस प्रकार की स्थिति संभव ही है। इस एकाकी में नाटककार का मौलिक कौशल हमें प्रथम ही दिखायी पड़ता है—वह है मुख्य वस्तु को नाटक की तीव्र घटनाओं के रहस्य में आवृत किये रखना—वह मुख्य वस्तु (living wire) विद्युत-तार की भाँति स्पंदित है और अन्तर में व्याप्त है—अत्यन्त सूक्ष्म गति से वह सिद्ध होती है। मजदूरों की दशा, साम्यवाद और पूँजीवाद की बहस, साम्यवाद के दिखावे का मखौल, हड़ताल, उससे मजदूरों की और भी अधिक दुर्दशा—ये सब वे आने-जाने वाली लहरियाँ हैं जो मुख्य वस्तु के रूप में पार्वती और सुन्दर को वकील साहब के यहाँ विवशत· घसीट ले जाने का उद्योग कर रही हैं। व्यंजना कितनी गहरी है—चौथा दृश्य बहुत ही समुचित रूप में 'उपसंहार' हो सकता है। नाटककार ने सेठ गोविन्ददास की भाँति 'उपसंहार' की आवश्यकता नहीं समझी, पर यह दृश्य उपसंहार का काम करता है। नाटक यथार्थतः तीसरे दृश्य में समाप्त हो लेता है—चरमोत्कर्ष सुन्दर के अन्तिम वाक्य के साथ उपस्थित हो जाता है।

'शैतान' एकाकी कई धारवाला अस्त्र है—एक ओर वह स्त्री-पुरुष के कृत्रिम वैवाहिक बन्धन की पोल खोलता है—राजेन जब स्त्री से कहता है कि

'यदि यहाँ पर कोई इस समय आ जाय, तो मुझको तुम्हारा पति समझे।' तब वह इसी वैवाहिक अत्याचार की ओर कटु संकेत कर रहा है। दूसरी ओर स्त्री के मन की गाँठ खोल कर रख रहा है। जो स्त्री अभी कह रही थी, 'यदि तुम्हारे विना मेरा जीवन नितान्त असम्भव भी हो जाय, तब भी मैं तुम्हें प्रेम न करूँ।' वही जब राजेन को हरदेवसिंह के स्थान पर अपना आत्म-समर्पण करते देखती है तो उसके इस निर्द्वन्द्व निरपेक्ष भाव पर विवश हो जाती है, और उसे ओठों पर चूम लेती है। समस्या यहीं है। उसका यह कार्य पति के लिए त्याग का पुरस्कार है, अथवा उसका 'अहं' को विसर्जित कर समर्पण? इसके अन्तर्गत सोद्देश्य ठंडे त्याग पर व्यंग भी है और दरिद्र की कटु आलोचना भी।

यद्यपि इस पर 'वर्नार्डशा' के 'डेविल्स डिसाइपिल' की छाया लम्बी होकर पड़ी है, पर इस एकांकी का अन्त उत्कर्षपूर्ण बन पड़ा है। यह उत्कर्ष व्यंजना के तारतम्य में आया है। घटना और चरित्र-विधान के स्वाभाविक चित्रण में नहीं। 'शा' के 'शैतान' में तो उस क्षण पर उस स्त्री जूडिथ का चुम्बन पाने के लिए एक प्रवंचनापूर्ण आभा चमक उठती है—'शा' ने स्टेज-निर्देश में लिखा है। 'and thus, turning roguishly to Judith' रिचार्ड के मन में सचमुच शैतान जग गया है और उसे उस चुम्बन में प्राप्त करने के लिए जूडिथ से अननुय करनी पड़ती है 'और अब, मेरी प्रिय, मुझे भय है कि सार्जण्ट को विश्वास न हो सकेगा कि तुम मुझे पत्नी की भाँति प्रेम करती हो यदि तुम मेरे जाने से पूर्व मुझे एक चुम्बन न दोगी।' और यह चुम्बन उसे उसकी (जूडिथ के विवाहित पति की) खातिर माँगना पड़ा है। रिचार्ड का कहना—तब वह स्थिति उपस्थिति होती है कि जूडिथ उसके गले में हाथ डाल देती है और चुम्बन लेती है। भुवनेश्वर में 'शैतान' इतना स्पष्ट नहीं था जितना 'शा' का; उनका शैतान शब्दों में शैतान है, अन्तर उसका शैतान नहीं तभी वह स्थिति रक्षा के लिए संकोचपूर्वक स्त्री का हाथ पकड़ता है—उसका हाथ पकड़ना बाँध को तोड़ देने के समान है। शा का नाटक आगे बढ़ता है। भुवनेश्वर यहीं समाप्त कर देते हैं। उज्ज्वल ज्योति अनुज्ज्वल में झिलमिलाती है। 'प्रतिभा का विवाह'—

विवाह और प्रेम के यथार्थ विरोध को प्रकट करने के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। ऊपर जिन एकांकियों का उल्लेख किया गया है उनमें अत्यन्त गौण भाव से यह प्रश्न विद्यमान रहा है—पर यहाँ यह स्फुट हो उठा है। स्त्री के लिए सफल मातृत्व अच्छा या वैधव्य, इस पर भी इस नाटक की दृष्टि है। मिस्टर वर्मा धनी पुरुष हैं। वे प्रतिभा से विवाह करना चाहते हैं। थोड़े समय बाद वे मर जायेंगे, पर प्रतिभा सम्मान पायेगी—'मातृत्व एक पेशा है और प्रतिभा सी स्त्री के लिए एक निकृष्ट पेशा है।......

मैं नहीं चाहता वह अपनी जीविका कमाने के लिए एक माता बने।' और प्रतिभा संभवतः मिस्टर वर्मा से सहमत है क्योंकि महेन्द्र को वह प्रेम तो करती है पर विवाह उससे नहीं करना चाहती। प्रेम में वह विस्मय कौतूहल चाहती है जो विवाह से उड़ जायगा—क्योंकि विवाह के बाद, प्रतिभा का कहना है—'हममें से कोई एक दूसरे के लिये त्याग न कर सकेगा।—वह विवाह वर्मा से करेगा।

प्रतिभा के विवाह में नाटककार अपने पूर्व नाटकों के जैसा तेज नहीं ला सका। व्यंग भी साधारण बन पड़े हैं। फिर भी जो बात वह कहना चाहता है उसमें कितना उसका विश्वास है यह प्रकट नहीं होता। भारत में वृद्ध-विवाह होते हैं, पर स्त्रियाँ उन विवाहों को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार नहीं करतीं। उन विवाहों में विधवा की प्रतिष्ठा का प्रश्न कम होता है—पर भव्य और सुशिक्षित समुदाय की स्त्रियों के विचारों का यदि यह चित्र है तो उसे सम्भवतः भारत के लिए भी स्वीकार किया जा सकता है। स्त्रियाँ, सुशिक्षित स्त्रियाँ समाज में प्रतिष्ठा पसन्द करती हैं, मातृत्व नहीं—और प्रेम तो वे पति के अतिरिक्त किसी से भी कर सकती हैं, जीवन में पति का सम्बन्ध आर्थिक व्यवस्था से है, जैसे। प्रतिभा के विवाह में लेखक की लेखन सम्बन्धी शिथिलता भी दिखायी पड़ती है। उसने नाटक का आरम्भ बिना 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया है। न पर्दा उठने का संकेत है। कुछ आगे चलकर दृश्य-परिवर्तन होता है वहाँ शीर्षक दिया गया है, 'दूसरा दृश्य'—कुछ देर के बाद दृश्य फिर बदलता है—पर लेखक ने उसे 'तीसरा दृश्य' शीर्षक नहीं दिया। लेखक संभवतः इस एकांकी में दृश्यों का

नामकरण नहीं करना चाहता था। फिर भी एक स्थान पर कर ही गया—यह उसकी मानसिक व्यस्तता का द्योतक है।

'रोमांसः रोमांच' में नाटककार ने सुधारवादी पाखंड पर कठोर आघात किया है—अमरनाथ मिस्टर सिंह की स्त्री के प्रेमी हैं,। मिस्टर सिंह ने अमरनाथ से कहा है:—

"वह आपका पूर्णतया विभिन्न रूप था। उस समय मैं आपको केवल अपनी पत्नी का प्रेमी या प्रशंसक तो जानता था पर बाद को मुझे मालूम हुआ आप उसका उद्धार भी करना चाहते हैं।"–मिस्टर सिंह इस प्रकार अपनी स्त्री को निरंतर अमरनाथ की प्रेयसी घोषित कर रहे हैं–और यहाँ तक कहते हैं, 'मैं कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता कि मेरी पत्नी एक ऐसे पुरुष को जो न जीवन को समझता है न स्त्री को हमारे जीवन में ले आये। और फिर एक सुधारक के ढीले भद्दे वस्त्र पहना कर एक निर्जीव चेहरा लगा कर।"

उधर अमरनाथ कहते हैं, "मैं उन्हे बहन तुल्य मानता हूँ"–और बताते हैं मिस्टर सिंह को कि "मेरा आप लोगों के जीवन में आने का केवल एक मात्र सदुद्देश्य मिसेज सिंह को यथा शक्ति निरापद और सुखी बनाना है।"

अमरनाथ मिसेज सिंह को सुखी बनाना चाहता है इसीलिये उसे संभवतः ले जाना चाहते हैं—मिस्टर सिंह दो टूक बात कह देते हैं—"मेरे अन्तिम शब्द हैं कि आप मिसेज सिंह को अपनी पत्नी के रूप में ले जा सकते हैं बहन के रूप में नहीं।" इस प्रकार के जोर की ठेस देकर वे अमरनाथ के ऊपर से सुधारक का निर्जीव चेहरा उतार कर फेंक देते हैं। वे स्पष्टतः यह भी कह देते हैं कि मिसेज सिंह यदि चाहें तो वे (मिस्टर सिंह) चर्च या मसजिद में जाकर अपना धर्म बदल सकते हैं जिससे तलाक देना सम्भव हो सके और तब तक वे और अमरनाथ विवाह कर सकते हैं।

नाटककार ने बहुत तीखी मार दी है—हिन्दू-समाज की आलोचना अत्यन्त तीव्र की गई है। दृश्य इसमें नहीं बदलते—नाटक जहाँ खुलता है वहीं समाप्त होता है। नाटक के प्राण कथोपकथन का वाक्वैदग्ध्य है, घटनाओं का तारतम्य नहीं।

'लाटरी'—इस संग्रह का अन्तिम नाटक है—इसमें घटनाओं और वाक्-वैदग्ध्य का सम्मिलन है। माया का पति किशोर विदेश से लौटा है, पर इधर माया प्रद्युम्न के प्रेम में जकड़ चुकी है। यही समस्या है—माया का यह कथन स्थिति की गरिमा प्रकट करता है—

"एक पुरुष विदेश में, अपरिचितों में, वर्षों रंग बिरंगे स्वप्न देखता है और जब गर्म धड़कता हुआ हृदय लेकर आता है तो देखता है वह किसी दूसरे पुरुष के प्रेम में पागल है।"

किशोर इस स्थिति को सुलझाने के लिए ब्रिटिश गायना में एक सोसाइटी का मन्त्री-पद स्वीकार कर लेता है, जैसा आया है वैसा ही लौट जाना चाहता है। परस्त्री के सामने बच्चों का भी प्रश्न है। वह देखती है कि झगड़ा बिना एक के ओझल हुए समाप्त नहीं होगा—सुझाव किशोर का भी है, पर वे इस प्रकार के फैसले को केवल नाटकीय समझते हैं—तब स्त्री भी यही प्रस्ताव प्रद्युम्न के समक्ष इन शब्दों में रखती है—"मेरे लिए दो पुरुष झगड़ रहे हैं और उसका निर्णय तलवार या पिस्तौल से करना चाहते हैं। आओ उस दराज से एक पिस्तौल निकालो।"

पर प्रद्युम्न कहता है—"मैं इस खूनी लाटरी में विश्वास नहीं करता। माया, मेरा सामान तैयार है मैं किशोर भाई की पोस्ट पर जा रहा हूँ।" इस प्रकार किशोर के स्थान पर वह ब्रिटिश गायना चला जाता है। तब माया एक अमानुषिक अट्टहास करके अपना अभिमत प्रकट करती है—"स्त्री का वास्तविक जीवन तभी प्रारम्भ होता है जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है, वह मनुष्य चाहे उसका पति हो या प्रेमी।"—यों नाटक समाप्त हो जाता है।

इन सभी नाटकों में कथानक का मूल केन्द्र विवाहित पति और प्रेमी तथा स्त्री है। सभी में ये तीन पात्र आवश्यक हो गये हैं। सभी नाटकों की समस्या का मूल यही है—और इसके द्वारा नाटककार ने समाज के संविधान को नोंचने-खोंचने का उद्योग किया है। उसके रूढ़ पाखण्ड के आन्तरिक मिथ्या को उद्घाटित करना चाहा है। अतः समस्या सामाजिक है, सैक्स सम्बन्धी नहीं। समाज की स्थिति के आन्तरिक जोड़ को चीर-फाड़ कर

दिखाने के लिए जितने अस्त्रों का उपयोग नाटककार ने किया वे सब विदेशी हैं—या पाश्चात्य हैं।

एक स्त्री के लिए दो प्रतिद्वंद्वियों का होना पुरानी कहानी है। पर उन कहानियों में पति या प्रेमी इतने पागल हो उठते हैं कि वे दूसरे की हत्या पर तुल जाते हैं। सभी अपने रहस्य को रहस्य रखते हैं—यहाँ प्रत्येक पात्र भावुक (Out spoken) स्पष्टवादी है—वह पाप-पुण्य और समाज के भय से भयभीत नहीं प्रतीत होता—क्योंकि आज की प्रायः समग्र अनुभूतियाँ वैयक्तिक ही होती हैं। जिस पढ़े-लिखे और निम्न वर्ग के पात्रों का संयोजन नाटक में हुआ है वे समाज की शृंखला को केवल भूमिका की भाँति ही ग्रहण किये हुए हैं—उनके व्यक्तित्व में उसकी छाया भी नहीं मिलती। फलतः हत्याएँ होने से बच जाती हैं—जैसे 'लाटरी' में—और पात्र (Sentimental) से बौद्धिक अधिक हो गये हैं। प्रेम करते हैं—प्रेम में फँसते हैं—पर जीवन के ठोस संघर्ष के सामने आते ही उनका प्रेम सिमिट कर अन्तर में ही निहित हो रहता है—वे प्रेम के लिए अपने जीवन की बाजी नहीं लगाना चाहते। उसे दूसरे के प्रति एक सहानुभूति भी कहा जा सकता है और अपना त्याग भी—पर नैतिक जगत के सत्यों पर 'कारवाँ' के प्राणियों की आस्था नहीं। लेखक ने तभी प्रवेश में लिखा है—

"प्राय: समस्त नाटककार जो पेटीकोट की शरण लेते हैं दो पुरुषों को एक स्त्री के लिये आमने-सामने खड़ा कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है। केवल बुलडाग कुत्ते के मुख से हड्डी निकाल कर अलग फेंक दी है।" इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ है कि सभी पुरुष-पात्र एक खीज, एक चिढ़ और एक आग में सुलगते दिखाई पड़ते हैं—परिस्थितियों से समझौता कर नहीं पाते। फलतः अपने से समझौता करते हैं जैसे कछुआ करता है।

लेखक ने समस्या सुलझाने का यत्न नहीं किया—क्योंकि वह मानता है कि "एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है।"

"समस्या नाटक का केवल एक उद्देश्य है, किसी समस्या को एक हास्यास्पद तुच्छता और असंभवता बना देना है।" भुवनेश्वर जी इस दृष्टि से समस्या-नाटककार हैं।

--भुवनेश्वर जी के दो एकांकियों का उल्लेख और आवश्यक है—एक 'ऊसर'। कुछ समालोचकों का मत है कि 'ऊसर' इनका सर्वश्रेष्ठ एकांकी है। दूसरा 'स्ट्राइक'। 'ऊसर' के सम्बन्ध में प्रो० अमरनाथ गुप्त ने लिखा है—

"ऊसर इनकी सर्वोत्तम कृति है। इसमें इनका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है। आधुनिक मनोविज्ञान की विकसित फैलती हुई शाखाओं का यह साहित्यिक रूप है। लेखक पर पश्चिमीय Unconscious मनोवैज्ञानिक Freud फ्रायड के मग्नचेतन के सिद्धान्त का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। साइको-एनालेसिस की सत्यता से कलाकार ने अपने कथानक की सृष्टि की है। लेखक का दृष्टिकोण Objective है। लेखक 'ऊसर' के ट्यूटर के रूप में ही आधुनिक भारतीय समाज की आलोचना एक Decorous age का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। 'ऊसर' एक पश्चिम के मनोवैज्ञानिक के शब्दों में व्यवहारिक का चित्रण है। व्यवहारिक मनोविज्ञान अथवा Empirical Psychology का अर्थ मनुष्य के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन व्यवहार स्वातन्त्र्य द्वारा है। विषय पर कोई निर्धारित शब्द-सूची का ब्यौरेवार उच्चारण किया जाता है और कोई सुनने वाला सुनकर सबसे प्रथम मस्तिष्क में आने वाले वाक्य और शब्द द्वारा उसका उत्तर देता है। यही ऊसर का कथानक है। हिन्दी नाट्य-साहित्य के लिये मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों को साहित्यिक रूप में परिणत करने का यह प्रथम सराहनीय उदाहरण है। इसके अध्ययन के लिये मनोविज्ञान का प्रारंभिक ज्ञान अनिवार्य है। 'ऊसर' का वातावरण न तो काल्पनिक है, न धूमिल। समाज की नग्न यथार्थता इसमें है। इसकी भाषा सरल, कठोर मिश्रित गतिशील है जिसका प्रभाव हृदय पर तुरन्त ही होता है।"

'ऊसर' में किसी 'भारतीय समाज' के दर्शन नहीं होते ? एक उस वर्ग का चित्र हमें मिलता है जो पाश्चात्य सभ्यता आक्रान्त हो गया है। समाज की अलोचना करना भी संभवतः लेखक को अभीष्ट नहीं—वह तो एक विशेष वर्ग—समाजहीन वर्ग के व्यवहारिक जीवन के दो तीन पहलुओं की झांकी कराना है। गृह स्वामी हैं—उन्होंने ट्यूटर रख छोड़ा है—ट्यूटर अपना रूप बहुत कम प्रकट करता है, वह गृह की प्रवंचना मय और विडम्बना

मय विशालता के आतंक में है—दुखी। उसे दो महिने यह इएटलेकचुअल एक्सपेरीमेंट करते हो गये— और संभवतः एक पाई प्राप्त नहीं हुई। पर इस बात को वह कह नहीं पाता। उस धनिक वर्ग का यह शोषण करने का पहलू-साथ ही वह पहलू जहाँ सब अपने अपने में मग्न हैं—इसे लड़के ने कुत्ते के द्वारा प्रकट किया है—'तुम्हें कोई नहीं पूछता, तुम यहाँ अकेले पड़े हो—तथा गृहस्वामिनी द्वारा वेवी की खोज भी इसी ओर संकेत करती है। गृहस्वामी का ट्यूटर के समक्ष अपनी ही बात कहे चले जाना भी इसी व्यक्तिगत अहंभाव की पुष्टि करता है। वह अपना मत बलात् दूसरों पर, जो उसके अधीन हैं विशेषतः उन पर लादना चाहता है—फिर भी इस उदारता के साथ कि यह उनकी सलाह है। उससे अधिक कुछ नहीं। गृहस्वामी जैसा चरित्र भुवनेश्वर को विशेष प्रिय है, कारण के बाद यही पात्र विशेष प्रबल होकर उनके बाद के दो एकांकियों में आया है। यह उन निष्क्रिय अहंवादियों में है जिसका स्वभाव है कि वे प्रत्येक विषय पर अपना कोई न कोई मत रखेंगे—जो उनकी आत्मा अथवा अन्तर-चरित्रधारा से मेल न खाता होगा। और इस सब आडम्बर के अन्दर जो गहरा खोखला-पन है—जो ऊपर है वह बड़ी निर्ममता पूर्वक झांक उठता है। उस मनोविश्लेषण के भेदक खेल के द्वारा—जिसमें गृहस्वामी ने 'मकान' के उत्तर में 'जिम्मेदारी' 'बिजली' के लिए 'दिमाग' पेरम्बूलेटर के लिए 'शादी' और 'सेक्स' के लिए 'साईन' लिखा है—और वससे भी गहरा उत्तर दिया है गृहस्वामिनी ने—

कमरा की	प्रतिक्रिया	'वाथ रूम'
बिजली	,,	अन्धेरा
पेरम्बूलेटर	,,	वेवी
सेक्स	,,	शाहनजफ रोड

ये शब्द भीतर ही भीतर अपनी एक कुत्सित कहानी कहते हैं, और बेनींव के उस वर्ग के आडम्बर को चारों ओर से घेर, वीभत्स और श्मशान तुल्य उद्घाटित कर देते हैं।

भुवनेश्वर जी का एक और कौशल प्रकट होता है, उनके रंग संकेतों में। वे भी केवल निर्जीव निर्देश नहीं। उनमें से जो ध्वनि निकलती है, वह पात्र और स्थिति को समझने में बड़ी सहायक होती है ऊसर में जैसे—

"सहसा भीतर के दरवाज़े से एक आठ बरस का लड़का त्योहारी कपड़े पहने एक कुर्सी को ढकेलता आता है। बरामदे में कुत्ता और युवक दोनों चौंक पड़ते हैं, कुत्ता एक बार समझदारी से गुर्रा कर फिर सिर टिका देता है और युवक तनिक अपराधी-सा मोटर से नज़र हटा लेता है।"

रंग-संकेतों में नाटककार की दृष्टि छोटी से छोटी बात और गति पर भी पड़ती है। वह केवल इन संकेतों के द्वारा स्टेज की अवस्था और उसकी सामग्री का ज्ञान नहीं कराना चाहता, वह विशेष ध्वनियों, प्रकाश-अन्धकार, आगमन-प्रस्थान के प्रतीकात्मक प्रयोगों पर भी दृष्टि रखकर नाटकीय घटना और पात्रों के कर्तृत्व से अधिक इन विधानों से (स्टेज इफेक्ट) रंग-मंचीय प्रभाव पैदा करना जानता है। 'रोमांस : रोमांच' में जैसे अन्त में उसने संकेत लिखा है—"(स्त्री कुछ देर अप्रतिम खड़ी रहती है पश्चात एक निश्वास लेकर द्वार के बाहर हृदयहीन अंधकार में कुछ खोजती है। कमरे में प्रगाढ़ कब्र की सी नीरवता और निश्चलता है केवल एक प्रखर और उत्तेजित सत्य के समान स्टोव सन सन भायं भायं जल रहा है)"

इस प्रकार के रंग-संकेतों का प्रयोग हिंदी एकांकी-कारों में भुवनेश्वर के साथ बस गणेश प्रसाद द्विवेदी में ही हम पाते हैं। वाक्-वैदग्ध्य के द्वारा नाटक में नाटकीयता लाने, तीखी व्यंजना और रहस्यमय प्रभावोत्तेजक रंग-संकेतों में भुवनेश्वर अपने क्षेत्र में अकेले हैं।

डाक्टर रामकुमार वर्मा

डा० वर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं—उच्चकोटि के कवि हैं, और प्रमुख एकांकी नाटककार हैं। यही वह एकांकी नाटककार हैं जिन्होंने कोई बड़ा नाटक लिखने की कभी चेष्टा नहीं की। यही वह एकांकीकार हैं जिनका प्रायः प्रत्येक एकांकी खेला भी जा चुका है—अधिकांशतः इनके नाटक खेलने के लिए ही लिखे गये हैं। 'चारुमित्रा' की भूमिका में श्री रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है:—

"श्री रामकुमार वर्मा हिन्दी में एकांकी नाटक के जन्मदाताओं में हैं। उनका सबसे पहला एकांकी नाटक 'बादल' है, जो सन् १९३० में लिखा गया था। इसे एकांकी नाटक की अपेक्षा अभिनयात्मक गद्य-काव्य कहना

अधिक उचित होगा। इसमें कथानक का प्रायः अभाव है, जो एकांकी नाटक की रीढ है। इसके बाद के उनके नाटकों में एकांकी नाटकों का प्रथम संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' १६३६ मे निकला। पाँच वरस वाद, १६४१ में, उनके पाँच एकांकी नाटकों का दूसरा संग्रह 'रेशमी टाई' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के नाटक प्रथम संग्रह की अपेक्षा क्या भाषा, क्या कथानक, और क्या रचना-कौशल, सभी दृष्टियों से प्रथम संग्रह के नाटकों की अपेक्षा बहुत उन्नत हैं। यह 'चारुमित्रा' उनके एकांकी नाटकों का तीसरा संग्रह है। इसमें १६४१-४२ के बीच लिखे गये उनके चार एकांकी नाटक हैं।"

पृथ्वीराज की आँखों में ६ एकांकी हैं, 'रेशमीटाई' में ५ और चारुमित्रा मे ४—इस प्रकार अभी तक हमें वर्माजी के १५ एकांकी प्राप्त हैं।

पृथ्वीराज की आँखें—इस पुस्तक में 'चम्पक', 'ऐक्ट्रेस' 'नहो का रहस्य,, 'बादल की मृत्यु', 'दस मिनट' और 'पृथ्वीराज की आँखें' ये ६ एकांकी नाटक हैं।

'चम्पक' में कवि की कला बहुत निखरी हुई है। किशोर एक उपकारी व्यक्ति, कवि की सहृदयता से भरा हुआ, नहीं कवि ही, जिसका आदर्श है उपेक्षित और दुखियों की सहायता करना और सेवा करना, चम्पक कुत्ते को घायल देखकर घर लाता है, उसकी सुश्रूषा कर उसे स्वस्थ कर देता है। कुत्ता बडा मन को लुभाने वाला है, पर अब किशोर उसे अपने पास नहीं रहने दे सकता। वह दुःख और मोह में जकड़ा हुआ भी उसे बेच देता है। फिर उसके द्वार पर आता है एक लंगड़ा भिखारी, इसी भिखारी ने उस कुत्ते को इसलिए चोट पहुँचायी थी कि इस कुत्ते का मालिक उसे बड़ी खातिर और लाड़चाव से रखता था, और उसका पड़ौसी भिखारी भूखों मरता और माँगने पर भी उसे कुछ न मिलता। उसने जल कर कुत्ते को मारा और खुद लंगड़ा हो गया। पर उसने गलती की थी। कुत्ते का तो कोई अपराध था नहीं। वह इसी पश्चात्ताप में जलता है। किशोर के प्यारे चम्पक को इस भिखारी ने मारा पर क्या इससे भिखारो के प्रति अनुदार हो जाय वह? नहीं पहले निरपराध की सेवा की थी अब अपराधी की सेवा करूँगा। यही, इन्हीं पक्तियों से भिखारी अपराधी को सेवा का मूल्य प्रतीत

हुआ और वह चम्पक को खरीदने वाली महिला शकुन्तला देवी के यहाँ को प्रस्थान कर गया, इसलिए कि वह वहाँ नौकरी कर कुत्ते की सेवा कर अपना प्रायश्चित करेगा।

प्रायश्चित, अपराध, ममता और कर्त्तव्य की एक सजीव रूप-रेखा चम्पक के द्वारा खड़ी होती है।

'ऐक्ट्रेस' में 'प्रभातकुमारी' अपने संकोच और लज्जा के कारण उच्छृङ्खल प्रकृति पति द्वारा उपेक्षिता होने की वेदना में घर छोड़कर प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप एक शिरोमणि अभिनेत्री हो जाती है। पर तब भी वह पति परायणा अपने भारतीय हृदय की पति-रसता को बनाये रहती है. उसी तपस्या से उसका यौवन और भी दमक उठा है। उसका पति पत्नी के विछोह से परिवर्तित हो जाता है, पर हृदय में उसकी आग निरन्तर रहती है। दूसरा विवाह हो जाता है। 'बासचित्र' का सम्पादक हो कर वह 'प्रभातकुमारी' का परिचय लेने उसके पास पहुँचता है। 'प्रभा' का बाँध कमलकुमारी की बातों से टूट जाता है, पर भविष्य रक्षा के लिए वह मंदार निर्झर में डूब कर प्राण त्याग देती है। इस नाटक में कवि ने 'प्रभातकुमारी' के अन्तर्सौंदर्य की बड़ी मनोरम मूर्ति उपस्थित की है। ऐसे ही, 'नदी का रहस्य' में प्रो० हरिनरायण का मानसिक चित्र, 'पृथ्वीराज की आँखें' में पृथ्वीराज चौहान का सुहृद् चरित्र-सौन्दर्य, 'बादल की मृत्यु' में बादल का मनोवेग सुन्दरता पूर्वक अभिव्यक्त किए गये हैं। 'दस मिनट' नामक नाटक को छोड़ कर प्रायः सभी में अन्तः संघर्ष प्रधान है। सभी नाटकों में उदार, कोमल, त्यागशील भावनायें व्याप्त हैं। सभी नाटक पठनीय हैं और क्योंकि यह 'हिन्दी-साहित्य' में बिल्कुल ही एक नई दिशा की ओर प्रयास है, बहुत ही श्लाघनीय और आदरणीय है।

'हंस' के 'एकांकी' अङ्क में प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपने 'एकाकी नाटक' शीर्षक लेख में इस नाटक पर इन शब्दों में अपना मत प्रगट किया था:—

"हाल में श्रीयुत रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' नाम से प्रकाशित हुआ है। जितना रहस्यमय शीर्षक है, उतनी असल रचना नहीं।** ***

"वर्माजी को 'पथ-प्रदर्शक के रूप मे हम नही देख सके...... एकांकी नाटक को अथवा हिन्दी-साहित्य को यहाँ कोई नया पथ नहीं सुझाया गया। सरस भाषा और भावुकता जो इन नाटकों के प्रधान गुण हैं, वर्माजीकी निजी सम्पति हैं। 'टेकनीक' आदि में कुछ वर्माजी ने नया अन्वेषण नहीं किया।"

इस मत से साधारणतः सहमत नहीं हुआ जा सकेगा। 'पृथ्वीराज की आँखें' जिस समय प्रकाशित हुआ, उस समय तक हिन्दी में इक्का-दुक्का ही एकाकी लेखक थे। प्रकाशचन्द्रजी ने उपर्युक्त लेख में या तो भुवनेश्वर के 'कारवाँ' का उल्लेख किया है, या सज्जाद जहीर की रचनाओं का, 'जो कभी-कभी 'हंस' में प्रकाशित हुए।' ऐसे समय में इस अङ्ग की पुष्टि में यदि कोई एक भी अच्छा नाटक दे तो वह 'पथ-प्रदर्शक' कहला सकता है। वर्माजी के इस संग्रह में भी कई सफल एकांकी हैं। 'एकांकी' इस समय हिन्दी मे स्वयं ही साहित्य की नयी शाखा थी, अतः उसमे नयी टेकनीक से पूर्णतः युक्त एकांकी प्रस्तुत करना भी पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता। 'एकांकी नाटकों' की टेकनीक की पूर्ण कल्पना इस संग्रह के एकाकियो मे हो गयी है, यदि कोई भी व्यक्ति एकाकियों का पथ-प्रदर्शक माना जा सकता है तो उसमें वर्माजी का नाम भी लिया जायगा। 'कारवाँ' के लेखक भुवनेश्वर पर बर्नार्डशा का बहुत प्रभाव पड़ा है। स्वयं नाटककार ने माना है कि उनका "शैतान" शा का ऋणी है। अतः 'कारवाँ' के लेखक को इतनी उधार सामग्री के साथ एकाकी के क्षेत्र में 'पथ-प्रदर्शक' मानना समुचित हो सकता है क्या? डा० वर्मा विचार और चरित्र की उद्‌भावना मे मौलिक हैं, टेकनीक को भी उन्होंने सुस्थिर रूप दिया है, यह मानना होगा।

'पृथ्वीराज की आँखें' लेखक की इस दिशा मे प्रथम कृतियों हैं—वे लेखक के लिए भी स्वयं 'पथ-प्रदर्शक' थीं और हिन्दी की आने वाली पीढ़ी के लिए भी। इस काव्य के एक 'एकांकी' 'दस मिनट' की आलोचना विस्तार से आगे दी गयी है उससे इस नाटककार की तत्तकालीन कला-सिद्धि का अनुमान हो सकेगा।

रेशमीटाई—'रेशमीटाई' में पाच एकाकी हैं। १—परीक्षा (मार्च १९४०) २—'रूप की बीमारी' (जुलाई १९४०), ३—'१८ जुलाईकी शाम' (जुलाई १९३७) ४—'१ तोले अफीम की कीमत' (जुलाई १९३९), ५—'रेशमीटाई' (सित० १९३८)

'परीक्षा' में कथानक का केन्द्र है उस स्त्री के मन की परीक्षा जिसने स्वयं २० वर्ष का होते हुए भी और ग्रेजुएट होते हुए भी ५० वर्ष के अपने प्रोफेसर से शादी की, स्वयं जान बूझकर। क्या बीस वर्ष की नवयौवना पचास वर्ष के अपने पति को यथार्थ प्रेम कर सकती है? उसका वह प्रेम क्या होगा? इस मनोस्थिति को स्पष्ट करने के लिए नाटककार ने एक वैज्ञानिक तत्वज्ञ की कल्पना की है। इस वैज्ञानिक ने एक रस ऐसा निर्माण किया है जिससे मनुष्य सदा युवक रह सकता है, और वृद्ध जवान बन सकता है। वह स्त्री रत्ना है, उसके पति प्रोफेसर केदार वैज्ञानिक डा० रुद्र के मित्र हैं। डा० रुद्र एक कौशल से रत्ना के मनोभावों की परीक्षा करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेम के लिए उम्र का अंतर यथार्थ अंतर नहीं. रत्ना अपने पति को वास्तव में प्रेम करती है, उन पर दया नहीं करती। वह उनके दुख में दुखी और सुख में सुखी रहती है।

इस नाटक के ऊँचे धरातल के द्वारा एक स्त्री की मनोस्थिति का तो स्पष्टीकरण होता है। जो प्रकट करना लेखक को अभीष्ट है, वह उसने बहुत ही सफलता पूर्वक प्रकट किया है। धरातल ऊँचा क्यों है? नाटककारने जिस मनोवैज्ञानिक स्थिति की परीक्षा करनी चाही है उसके लिए एक अत्यन्त विशद और गंभीर भूमिका डा० रुद्र और उसकी विज्ञानशाला और उसके अद्‌भुत प्रयोगों के रूप में प्रस्तुत की है—उस भूमिका में हमें भावी वैज्ञानिकों के लिए दिशा-ज्ञान दीखता है। साथ ही समस्त व्यापार अनुद्वेग-पूर्ण मानसिक द्वन्द्व और संयत भाव-द्वन्द्व से अनुप्राणित है। इससे स्वभावतः ही नाटक में एक ऊँचाई आ जाती है। पर हम नहीं समझ पाते कि रत्ना का वैसा प्रेम हमारे किस काम का है। क्या २० वर्ष और ५० वर्ष की आयु के स्त्री पुरुष को परस्पर विवाह संबंध में बंधना चाहिए? या वृद्ध-विवाह भी मनोवैज्ञानिक आधार पर उचित ठहर सकते हैं? या वृद्धों को अपनी युवती पत्नियों पर केवल आयु के विशेष अंतर के कारण संदेह नहीं करना चाहिए—इन सब दृष्टियों में एक मध्ययुगीन भावना ही विद्यमान है। फलतः इतने ऊँचे चिन्तन धरातल पर होते हुए भी नाटक में यथार्थ 'शिवत्व' नहीं प्रतीत होता है। कलाकार को जीवन की अस्वाभाविक स्थितियों में मिलने

वाले किंचित संतोष और समाधान को गौरव नहीं प्रदान करना चाहिए।

नाटककार ने कौतूहल को जागृत किया है, उभारा है, उसे उत्कर्ष तक पहुँचाया है, जिससे नाटक में रस समृद्ध होता गया है—शिथिलता नहीं आ पायी। पर नाटककार ने दर्शकों से पाठकों से छल किया है, और उसे दर्शकों की उपस्थिति का ज्ञान हो गया है जिससे नाटक में एक क्षोभ पैदा हो गया है। डा० रुद्र और प्रो० केदार अपने कमरे में अकेले हैं—फिर भी डाक्टर उसे एक भीतरी कमरे में लेजा कर आगे के षडयंत्र की रूपरेखा बताते हैं—ऐसा क्यों? केवल दर्शकों के आगे उद्घाटित होने वाले रहस्य को छिपाने के लिए। यहाँ नाटककार अपने कौशल में कुछ चूक गया है। नाटक के मूल प्रश्न के लिए मनोवैज्ञानिक परीक्षा की नहीं मनोविश्लेषण की आवश्यकता था।

'रूप की बीमारी' एक साधारण एकांकी है। रूप 'मरीजे इश्क' है एक 'कुसुम' नाम की लड़की का। उसने बीमारी का बहाना किया है। दो-दो डाक्टर तरह-तरह के इलाज कर रहे हैं—अंत में डाक्टर आपरेशन का निश्चय करते हैं तो रूप अपनी बीमारी का असली रहस्य खोल देता है—रूप डाक्टरों से अपने पिता के समक्ष यह प्रस्ताव उपस्थिति कराता है कि कुसुम को बुलाकर रूप को गाना सुनवाया जाय, गाने से बीमारी अच्छी होगी—इस नाटक में डाक्टरों के ज्ञान पर व्यंग है, वे बिना रोग का ठीक निदान किये चिकित्सा करते हैं—निदान भी ठीक नहीं कर पाते। बहुत ऊंचा और गंभीर व्यंग है—वे लोग बहुत गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, पर अपने विज्ञान के लिए क्या करें? डाक्टरों से अधिक उनकी चिकित्सा प्रणाली पर व्यंग है। रूपचन्द के पिता का चित्रण विशेष आकर्षक बन पड़ा है। रूपचन्द तो आधुनिक मजनू हैं। रोमांस के लिए सचेष्ट।

'१८ जुलाई की शाम' भी स्त्री मनोविज्ञान से सम्बन्धित है। 'उषा' पढ़ी लिखी अपनी उमंगों में है—अपने पति के महत्त्व और चरित्र की गरिमा से अनभिज्ञ—वह एक रंगीले व्यक्ति के चक्कर में फँसना चाहती है कि उसके सामने अपने पति का यथार्थ महत्त्व और चरित्र स्पष्ट हो उठता है, और वह एक दम पतिभक्ता हो जाती है। इसी परिवर्त्तन की कहानी है।

'एक तोले अफीम की कीमत' एक ललित संयोग तक पहुँचाने वाला एकांकी है। मुरारी मोहन एक अफीम के ठेकेदार का लड़का है। दूकान में अफीम खतम हो चुकी है, केवल एक तोला अफीम मुरारी मोहन ने छिपा रखी है वह उसे खाकर आज आत्म-हत्या करेगा। क्योंकि उसकी शादी एक गंवार लड़की से की जा रही है—वह अपने सिद्धान्तों की हत्या नहीं कर सकता, अत अपनी हत्या करता है। तभी एक लड़की आती है विश्वमोहनी। वह अफीम माँगती है, बहाने से। मुरारी ताड़ जाता है—उसे एक गोली दे देता है, वह झट खा जाती है। वह भी आत्महत्या करना चाहती है—क्योंकि उसके पिता दहेज देंगे तो दरिद्र हो जायँगे। विश्वमोहनी गोली खा लेती है, अपना रहस्य प्रकट कर देती है—पर गोली का असर नहीं। वह अफीम कहाँ थी—हर्र थी। तब दोनों संयोग ने जैसे एक दूसरे को मिल गये हों—आत्महत्या को दोनो ही अब मुलतवी कर देते हैं।

पाँचवा है 'रेशमीटाई'—नवीनचन्द्रराय एक इन्श्योरेन्स कम्पनी के एजेण्ट हैं और साम्यवादी विचारों के हैं। एक दूकान से एक टाई के दाम देकर दो टाईयां ले आये हैं—आँखों में धूल झोंक कर। एक स्त्री खद्दर बेचने आती है, उसके गट्ठर में से एक थान चोरी कर निकाल लेते हैं, पर उसकी स्त्री 'लीला' बडे कौशल से पति के सम्मान की रक्षा करते हुए उस थान के दाम चुकाती है। पति लीला की ऐसी पति-परायणता देख कर सुधर जाते हैं।

इन सभी एकांकियों में नाटककार ने (Humour) हास्य की एक सरल रेखा बनी रहने दी है। वह जैसे यह विश्वास करता हो कि नाटक में सहज हास्य का होना अत्यन्त आवश्यक है।

कौतूहल के तत्व पर निर्भर करते हैं ये एकांकी। एक रहस्य को अन्तर में छिपाये हुए घटनाये आगे बढती हैं। परीक्षा में परीक्षा के लिए षडयंत्र की रूप-रेखा, 'रूप की बीमारी' में बीमारी का रहस्य '१८ जुलाई की शाम' में पति के गौरव का उद्घाटन, 'एक तोले अफीम' में अफीम के स्थान पर हर्र देना—ये सभी घटनायें कौतूहल समेटती हुई रहस्य में से

उद्घाटित होती हुई प्रतीत होती है। इसके उद्घाटित हो जाने पर नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटकों में बहुधा मध्य युगीन प्रवृत्ति को नयी रूप-रेखाओं में प्रकट किया गया है। साम्यवादी के प्रति लेखक के विशेष सद्भावनामय विचार नहीं तभी नवीन को 'रेशमी टाई' में साम्यवादी बताया गया है। उसे बिना साम्यवादी बनाये भी नाटक ज्यों का त्यों उत्कर्ष पा सकता था।

ये नाटक समस्या उपस्थित नहीं करते, न हल ही देते हैं। एक अध्ययन जैसे हैं--किसी अनुभव को जैसे कथा रूप दे दिया गया हो। शिक्षा की ओर भी कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं।

आन्तरिक संघर्ष सभी में विद्यमान है। सब से अधिक उग्र वह '१८ जुलाई की शाम' में उद्भासित होता है--पर यह संघर्ष अत्यन्त संयम से प्रस्तुत हुआ है, जिससे पात्रों के चित्रण में एक उद्दीपन तो हुआ है पर हलकापन नहीं आ पाया।

'चारुमित्रा' मे चार एकांकी हैं—इसका पहला एकांकी 'चारुमित्रा' है। नाटक जहाँ खुलता है और समाप्त होता है वह कलिंग की युद्ध-भूमि में सम्राट अशोक के शिविर का अन्तरंग भाग है। आरम्भ में हमें एक चित्र बनाती हुई तिष्यरक्षिता दृष्टिगत होती है। चारुमित्रा कलिंग बालिका है पर बचपन से अशोक की दासी है—स्वामिभक्त। तिष्यरक्षिता कलाप्रिय, कोमल-हृदया पतिव्रता स्त्री है। वह चाहती है युद्ध बन्द हो जाय, पर पति को विवश कैसे करे? दुखी होकर वह चारुमित्रा का नृत्य देख कर मन बहलाना चाहती है। तभी अशोक आ जाता है—चारु के चरणों में नूपुर देख कर क्रोधित होकर उसे अंगारों पर नाचने का दण्ड-विधान करता है। तिष्यरक्षिता अपना दोष बता कर चारु की रक्षा करती है। अशोक का चारु पर से विश्वास उठ रहा है क्योंकि वह कलिंग-कन्या है। एक स्त्री अपने मृत पुत्र को लिए अशोक को कोसती आती है। उसके बच्चे को एक सिपाही ने मार डाला है। अशोक उसका न्याय करने जाता है— तब उपगुप्त आते हैं और तिष्या को शान्ति देते हैं। उनके जाने पर अशोक आते हैं। वह दुखी हैं क्योंकि उस स्त्री ने उसके न्याय पर भरोसा न कर उनके समक्ष अपनी

आत्महत्या करली। एक बच्चे का मूल्य माँ के लिए राज्य से भी अधिक। इस घटना ने अशोक को प्रभावित किया है। तभी चारु की मृत्यु का समाचार मिलता है। उपगुप्त के साथ चारु का मृत शरीर आता है। विदित होता है कि चारु ने उन कलिंगवासियों से लड़ कर अपने प्राण गँवाये हैं जो छिप कर अशोक के प्राण लेने आये थे। उस घटना से भी अशोक पर प्रभाव पड़ता है और वह उपगुप्त की उपस्थिति में आगे रक्त न बहने देने की घोषणा करता है।

इस कथानक का मुख्य सूत्र है चारुमित्रा की स्वामिभक्ति और बलिदान तथा अशोक की परिणति। इस प्रसिद्ध कथा को बड़े कलात्मक ढंग से लेखक ने उपस्थित किया है। तिष्यरक्षिता और चारुमित्रा का वार्तालाप काव्य की कोमल और उदार लहरियों से तरंगित हो रहा है। उन दोनों की भूमिका में अशोक की कठोरता का उग्र रूप अच्छा खिचता है, पर उसमें तिष्यरक्षिता के प्रति जो सम्मान-भाव है और उसका उस रौद्र काण्ड के प्रति जो केवल वीर-भाव का दृष्टिकोण है, इसमें उसके वे भयानक कृत्य क्रूर नहीं बन पाते। केवल वह व्यग्रता सिद्ध होती है जो किसी ध्येय की धुन के कारण हो सकती है। नाटक में आदि से अन्त तक एक सहज स्वाभाविकता है। उपगुप्त के गमनागमन को छोड़ कर प्रत्येक पात्र और घटना को समुचित व्यवस्था मिल जाती है। उसमें दो बातें विशेष खटकने वाली लगती हैं—एकांकी में जितने काल की घटना ली जाती है, वह उतने ही काल में यथार्थतः अभिनय में भी सिद्ध होनी चाहिए। अशोक का बाहर जाना निरीक्षण करना, १७ सैनिकों का क्रम से स्त्री के समक्ष आना अठारहवें की छुरी से घात कर लेना और अशोक का लौट आना उतनी देर में संभव नहीं प्रतीत होता जितनी देर में तिष्या उपगुप्त से बातें करती है। चारुमित्रा के बलिदान वाली घटना भी अधिक समय चाहती है। नाटक से यह भी प्रकट है कि नाटककार पहले अंश को जितना प्रबल बना सका है, उत्तरांश को उतना नहीं। अशोक के उस महान परिवर्तन के लिए अशोक से बाहर हुआ तो बहुत कुछ है पर उसे ऐसे उपस्थित नहीं कर सका कि वह उतने प्रबल संकल्पशाली हृदय नाटककार को हिला सके, और अशोक के तत्कालीन अन्तः संघर्ष का तो बहुत कम

चित्रण हुआ है—जैसे अशोक तैयार ही बैठा था कि वह कब अपनी घोषणा सुनाये। उपगुप्त ने जिस ढंग से चारुमित्रा की कहानी सुनाई है, वह भी कला के उत्कर्ष को ठीक उस स्थान पर शिथिल कर देती है जब उसे चरमता पर पहुँचना चाहिए। इसका आभास नाटककार को भी मिल गया है और तभी उपगुप्त के मुख से ये शब्द कहलाये हैं—

"महाराजा यदि चारुमित्रा के चरित्र-गान में कुछ विलम्ब लग जाय, तो आप धैर्य रखें।" उत्कर्षित भावों को और टालते ले जाना उनके सूत्र को और बढा ले जाना गताब्द में कला का एक विशेष सौन्दर्य माना जाता था। डा० वर्मा के इस नाटक से यह स्थल इस 'परिणाम-वंचना' का भी उदाहरण नहीं यदि है भी तो बहुत ही अनुत्कृष्ट।

इस दृश्य संघटन में एक और भारी अवहेलना होने से दृश्य में स्वाभाविकता और विद्रूपता आ गई है, और उसकी लम्बी छाया नाटक के सभी प्रमुख पात्रों पर पड़ कर उनके समस्त रूप को मलिन कर देती है। 'चारुमित्रा' का शरीर तिष्यरक्षिता और अशोक के समक्ष आ जाता है, उपगुप्त तो साथ हैं ही वे सब यह भी जानते हैं कि वह अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है। 'यह सूचना उपगुप्त ने' तिष्यरक्षिता और अशोक को दी है पर उनमें से किसी में इतनी करुणा नहीं जाग्रत होती कि वे उसके उपचार का कोई प्रयत्न करावें। तिष्यरक्षिता का चारुमित्रा के प्रति वह प्रेम यहाँ संदिग्ध हो उठता है, अशोक का सब उद्‌गार उपहासनीय हो जाता है, और उपगुप्त की महाभिक्षुता तथा भंतता विडंबना बन जाती है। जैसे चारुमित्रा का चरित्र ही सब कुछ था, उसका दुःख कुछ भी अर्थ नहीं रखता और किंचित् विचार से, ऐसा लगने लगता है कि इन तीनों ने मिल कर अपनी उपेक्षा और क्रूर आचार से चारुमित्रा को मार डाला। जिसने सम्राट् के लिए अपना शरीर बलिदान किया उसके शरीर की सुश्रूषा का कोई प्रबन्ध नहीं। बिना किसी उपचार के ही जब चारुमित्रा होश में आती है तो तिष्यरक्षिता का यह कहना "और चारु, तू अच्छी हो जायगी" कितना भयानक व्यंग प्रतीत होता है। फलतः नाटक 'चरमोत्कर्ष' के स्थल पर डिगमिगा गया है। ठीक-ठीक सध नहीं पाया।

'उत्सर्ग' इस संग्रह का दूसरा एकांकी है। मार्च १६४२ का लिखा हुआ। यह एक अद्भुत एकांकी है, टेक्नीक की दृष्टि से नहीं वरन विषय और उसके साधनों की दृष्टि से। नाटककार ने एक ऐसे वैज्ञानिक की कल्पना की है जिसने एक ऐसा यंत्र आविष्कृत कर लिया है जिसकी सहायता से मृतक आत्मायें शरीर धारण कर के आ जाती हैं। इस वैज्ञानिक का नाम डाक्टर शेखर है। उसकी प्रयोगशाला में वह यंत्र लगा हुआ है। इस यंत्र की सहायता से नाटककार ने छायादेवी और डा० शेखर के प्रेम को उद्घाटित किया है, और उसकी कृपा के स्वरूप हमें यह विदित हुआ है कि डा० शेखर ने अपने मित्र की विधवा पत्नी और उसकी पुत्री मंजुल का भार अपने सिर उठाया है। और यह सोचकर कि स्वयं विवाह करने पर अपने मित्र की विधवा पत्नी की सेवा नहीं कर सकूंगा—उसने अपनी प्रेमिका छायादेवी की उपेक्षा करदी, जिसके फलस्वरूप वह मर गयी। मंजुल की भूल से यंत्र खुल जाता है, और छायादेवी की प्रेतात्मा साकार रूप धारण कर मंजुल से बात करने आ जाता है और मंजुल को चार महिने बाद साथ लेजने का निमंत्रण देती है, जिसका अर्थ है—चार महिने बाद मंजुल की मृत्यु। डाक्टर इसे नहीं सह सकता वह कहता है "मुझे अपने मित्र की पुत्री मजुल के सुख के लिए मुझे ईश्वर की पूजा भी ठुकरानी पड़े तो देवा, मैं उसके लिए तैयार हूँ।" डा० शेखर फिर छायादेवी को बुलाते हैं—बहुत उपालम्भ और दुःख के बाद छायादेवी मंजुल का जीवन पूर्ण रहने देने के लिए इस शर्त पर तय्यार होतीं है कि डाक्टर वह यंत्र तोड़ दें। क्योंकि वह यह नहीं चाहती कि डाक्टर "आत्माओं के संसार में भी तूफान उठायें, मृत्यु के परदे को फाड़ कर अपने कदम बढ़ायें" मंजुल डाक्टर को इतनी प्रिय है कि वह अपनी उस महान साधना की सिद्धि को, उस यंत्र को, मंजुल के जीवन के लिए तोड़ डालता है। आत्मा अपने वचनों का पालन करती है। मंजुल प्रेतात्मा संबंधी सब बातें भूल जाती है। अब वे स्वस्थ हैं।

इस नाटक में नाटककार का कौशल अत्यन्त प्रखर होकर चमका है। उसने आदि से अन्त तक अद्भुत को भूमिका में उपस्थित रखा है।

पर प्रेम-करुणा और रौद्र तथा वीर के तीव्र भावों का नृत्य कराया है। आचार और चरित्र का एक अभूतपूर्व दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। डा० शेखर का अन्तःसंघर्ष अत्यन्त प्रबलता पूर्वक प्रकट होता है—उसका अपने प्रेम और सुख का त्याग और मित्र के परिवार की सेवा। यद्यपि मित्र के कुटुम्ब के लिए इतना त्याग भी अद्भुत है, राम के दशरथ के वचनों की रक्षा के आदर्श से भी बढ़कर आदर्शमय है। और मंजुल के लिए अपने जीवन की समस्त साधना को चूर चूर कर डालना भी एक आश्चर्यमय आदर्श; पर नाटक के नाटकत्व को इनसे कोई व्याघात नहीं पहुँचता। इसका तात्पर्य यह है कि कथा-वस्तु मध्ययुगीन है—रूप रेखा में नहीं मूलतत्वों में, जिसके आधार पर वह खड़ी हुई है। छायादेवी का प्रेम और डाक्टर शेखर के सेवा-भाव का यथार्थ रहस्य साधारणतः समझ में नहीं आ सकता। यदि कोई यह प्रश्न कर बैठे कि क्यों शेखर ने अपने प्रेम और अपनी साधना से भी अधिक महत्व मित्र की पत्नी और पुत्री को दिया, तो स्पष्ट नहीं मिलेगा, पर संभवत: शेखर के चरित्र के इसी रहस्य की अनुभूति को स्पष्ट करने के लिए नाटक की सृष्टि हुई है। यों शेखर भी अपने उत्सर्ग को महत्व पूर्ण समझते हैं, वे छायादेवी से कहते हैं–"मैंने तुम से विवाह नहीं किया छाया, केवल एक पवित्र उद्देश्य के लिए। अपने जीवन की समस्त सेवाओं को एक पवित्र स्मृति में उत्सर्ग करने के लिए।...

"मैं डर रहा था कि कहीं तुम्हारी ओर देख कर मैं अपने सेवा-व्रत से डिग न जाऊँ, मैं अपने मित्र की पत्नी की ओर से उदासीन न हो जाऊँ।....

"मैं समझता देवी कि तुम्हें मेरे सेवा-व्रत से संतोष होगा, आजन्म अविवाहित शेखर के प्रति तुम करुणा और सुख प्रगट करोगी। लेकिन मेरे आत्म-बलिदान का कोई मूल्य नहीं रहा।"

इन शब्दों में जैसे लक्ष्मण की आत्मा बोल रही है। और छायादेवी उपेक्षिता उर्मिला जो अपने प्रेम का प्रतिदान चाहती है। यह आशंका नहीं की जा सकती कि शेखर और मित्र की पत्नी में कोई अनुचित संबंध है। पर ऐसा उत्सर्ग क्यों संभव हुआ? फ्रायड की सहायता से संभवतः डा० शेखर किसी ऐसे सांचे का मनुष्य बताया जा सके जो पुत्र बनना भी

स्वीकार कर सकता है, और पिता बनना भी—पर पति बनना नहीं। इसके संकेतों का रचना में अभाव है, इसीलिए एक रहस्यमयता है।

वैज्ञानिक यंत्र के सहारे छायादेवी का अवतरण 'राजा भोज के सपने' की कहानी के देवदूत (सत्य) के उतरने के समान है। वह देवदूत (सत्य) राजा भोज के अन्तर का उसके कार्यों का यथार्थ रहस्य उद्‌घाटित करता था—उसका धरातल नैतिक था। छायादेवी डा० शेखर के कृत्यों का मूल्यांकन करती है—इनका धरातल प्रेम है।

मूलतः नाटक में समस्या यही है कि क्या पुरुष को अपने प्रेम की अवहेलना करके दूसरों की पवित्र सेवा करने का अधिकार है। विशेषतः वह प्रेम जिसका सम्बन्ध दूसरे से हो चुका हो, दूसरे का हो चुका हो। क्या लक्ष्मण को राम-सीता के लिए उर्मिला का वैसा उत्सर्ग उचित था ? छायादेवी उनके आंतरिक रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए कहती हैं :

"पहले सेवा के व्रत से क्यों आत्मप्रशंसा के भूखे नहीं थे ? चोर की तरह क्या तुम मेरी ओर से भाग नहीं गए ? यदि मुझ से विवाह नहीं कर सकते थे तो एक वीर की तरह दिये हुए वचन के लिए पश्चात्ताप करते।......

"तो तुम कायर भी थे।......

"स्त्री के सच्चे प्रेम की सीमा नहीं जानते और मृत्यु का रहस्य खोजने में व्यस्त हो।"

'मंजुल' के लिए जीवन की समस्त साधना के इतने उपयोगी फल को नष्ट कर देना क्या है ? डाक्टर की महानता अथवा दुर्बलता ! यही वह विडम्बना है—शेखर छाया के प्रेम का तो तिरस्कार कर सका एक उपकार के लिए, पर मंजुल के प्रति अपने प्रेम का तिरस्कार विश्व-कल्याण के लिए नहीं कर सका ? यहाँ पर शेखर का सारा 'उत्सर्ग' व्यंग बन जाता है, और प्रश्नवाचक की भाँति खड़ा हो जाता है।

इस नाटक का गहरा व्यंग वैज्ञानिकों के उस समुदाय पर भी हो सकता है जो आत्माओं को बुलाने और मृत्यु के बाद उनके रहस्य को वैज्ञा-

निक साधकों से जानने में संलग्न हैं। बुद्धिवादी और बुद्धिजीवी के ऊपर हृदय की विजय की कल्पना इसमें है। प्रेमलोक में हृदय की विविध अनुभूतियों का चित्रण तो है ही—यहाँ की उदार और अनुदार भाव-सृष्टि का शोध लेखक ने किया है।

नाटक में शनैः शनैः गति आयी है, और वह क्रमशः उग्र होती जाती है, और ठीक विन्दु पर चरमता ग्रहण कर लेती है।

'रजनी की रात' में भी समस्या स्त्री-पुरुष संबंधी है। रजनी एक स्वतंत्रता प्रिय गंभीर प्रवृत्ति की कुमारी युवती है। वह अपने पिता से भी मुक्ति चाहती है और अकेली काश्मीर में रहती है। उसके विपरीत भाव और स्वभाव-वाली है कनक। स्त्री की स्वतंत्रता और एकांत-निवास की पोषक और प्रतिपादक रजनी की कनक के भाई से भेंट होती है। वह भी स्वतंत्र उन्मुक्त पुरुष है, पर रजनी से समाज के संबंध में सहमत नहीं। रजनी समाज को त्याग देने के पक्ष में है, आनंद उसका सामना करने और उसे शासन में लाने के पक्ष में है। वह रजनी से भी कहता है कि स्त्री को इस प्रकार एकांत ठीक नहीं। उसी रात को एक बुड्ढे की शशि को डाकू भगा ले जाते हैं। 'आनंद' उसे बचाता है। इस घटना से और सब से अधिक आनंद के निजी आकर्षण से प्रभावित और प्रेरित होकर रजनी भी कनक और आनंद के साथ घर लौटने को प्रस्तुत हो जाती है। स्वतंत्रताप्रिय और स्नेहप्रिय रजनी को रास्ते पर आना पड़ा है। समाज और उसके प्रति स्त्री के कर्तव्य पर इसमें गंभीर विचार हैं। रजनी से लेखक ने स्त्रीत्व की हार स्वीकार करा ली है और रजनी अन्दर और बाहर दोनों ओर से पुरुष से हार गयी है। अन्तर में आनन्द से अभिभूत होकर उन्हीं में मग्न होकर—बाहर, शशि के डाकुओं द्वारा हरे जाने की घटना से सिहर कर जब वह 'आनंद' के इस कथन को स्वीकार कर लेती है कि "ठहरिए रजनीदेवी, आप लोगों को हम जैसे सिपाहियों की जरूरत है। जरूरत है न?"

अन्धकार इस संग्रह का चौथा नाटक है। यह मार्च १६४२ का है। इसमें लेखक स्वर्ग में पहुँच गया है—सृष्टि के रचयिता के कक्ष में। श्री

रामनाथ सुमन ने चारुमित्रा की भूमिका में लिखा है:" 'उत्सर्ग' और 'अंधकार' हिन्दी नाटक में नये प्रयोग हैं और रामकुमारजी की मौलिक प्रतिभा ने इस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का जो साहस किया है, उसका अभिनन्दन करता हूँ।" यह संभवतः इसीलिए लिखा गया है कि अब तक के किसी एकांकीकार ने स्वर्ग के दर्शन नहीं किए। भारतेन्दु युग में 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी' का हास्यमय अभिनय पढ़ने को मिला था, जिसमें यथार्थतः किसी गम्भीर समस्या को उठाया गया हो वैसा नाटक या एकांकी स्वर्ग-कल्पना के आधार पर नहीं था—स्वर्ग में प्रजापति के कक्ष में विद्याधर को प्रजापति मरीचि 'अन्धकार' रहस्य स्पष्ट करते हैं—वह गुह्य बात है प्रजापति और उनके आठ भाइयों के अतिरिक्त दूसरा नहीं जानता। विद्याधर को भी उसे गुह्य रखने का आदेश कर उसे प्रकट करते हैं :

'सुनो। मेरे पिता विश्वगुरु ब्रह्मा हैं। हम नव पुत्रों के अतिरिक्त उनके एक कन्या भी हुई। अत्यन्त सुन्दरी कन्या! उसका नाम जानते? स···र··· स्व···ती···। मेरी बहिन सरस्वती के शरीर से रूप चन्द्रकला की भाँति आकाश के रोम-रोम में स्वर्ग की सृष्टि करता था। महात्मा ब्रह्मा सरस्वती के पिता होकर भी ···उसे काम भाव से चाहने लगे।··· ···"

"पिता को इस अधर्म-पथ पर जाते देखकर हम लोगों ने प्रार्थना की—'विश्वगुरु, यह कलंक-पथ है, उस पर अपने पवित्र हृदय को गतिशील कर आप भविष्य की सृष्टि को दूषित न कीजिए।······पिताजी लज्जित हुए और उन्होंने उस कामुक शरीर का परित्याग किया। वही परित्याग किया हुआ कलुष शरीर अन्धकार है विद्याधर, वही कलंक शरीर अन्धकार है।"

प्रजापति पिता के इस कलंक को मिटाना चाहते हैं। पहले तो विचारते हैं एक ऐसी सृष्टि करना जो हिरण्यमय अण्ड हो और मार्तण्ड उसमें स्थिर रहे, जिससे अन्धकार होगा ही नहीं—पर विचार कर वे दुराचरण को रोकने के लिए बुद्धि का केन्द्र बनाना चाहते हैं। उससे अन्धकार का नाश होगा। वे स्त्री-पुरुष के रूप में बनेंगे और इसके लिए वह विश्वगुरु ब्रह्मा से उनका पुण्य शरीर मांग लायेंगे जिससे आधे से पुरुष

आधे से स्त्री बनायेंगे। विश्वगुरु प्रजापति से सहमत नहीं क्योंकि, उनका कहना है :

"एक कलंक को छिपाने के लिए जो कार्य भी किया जायगा वह भी कलंक होगा।"

तब प्रजापति को प्रतीत होता है कि उनके पवित्र कक्ष में विद्याधर और मेनका ने प्रेमालाप किया है। विद्याधर प्रेम न करने की प्रतिज्ञा से च्युत हो-गया, मेनका विजयी हुई। इस आचार का दंड देने के लिए प्रजापति विद्याधर को स्त्री के रूप में और मेनका को पुरुष के रूप में पृथ्वी पर भेजते हैं—उनसे कहते हैं—'मैं समस्त पापाचार का अंत देखना चाहता हूँ। मै चाहता हूँ कि स्त्री होकर भी देवी बनो। पतिव्रता होना सीखो।"...वहां अंधकार का नाश करना "अपने मस्तिष्क की शक्ति से।" वे जाते हैं। माया समझाती है कि 'अंधकार' आवश्यक है। कश्यप आते हैं। वे भी अंधकार का समर्थन करते हैं। प्रजापति मरीचि का तेज कम होने लगता है, उनके प्रजापतित्व का काल समाप्त होने आगया है। तभी मेनका और विद्याधर पृथ्वीपर तीस वर्ष बिताकर प्रजापति के पास पहुँचते हैं, और आकर प्रजापति की भर्त्सना करते हैं कि तुम्हारा धर्म जीवन का विष है।

"वही धर्म जीवन का सब से बड़ा अंधकार है। प्रेम हो नहीं सकता यदि वासना न हो। तुम पतिव्रता के मन और शरीर दोनों को बांधना चाहते हो ? अंधकार फैलाऊँगा ·· ?"

प्रजापति अनुभव करते हैं कि उन्होंने पुरुष और स्त्री के निर्माण की कल्पना व्यर्थ की। और वे अंधकार में विलीन हो जाते हैं।

यह कथा है और ये उसकी मूल तीलियाँ हैं—पात्रों में दो अश्विनी-कुमार अपनी प्रेम कथा लेकर आते हैं और वे भी हताश चले जाते हैं।

यों तो लेखक ने नाटकीय बंधान में कितने ही वैविध्य देकर कई बातें इधर-उधर की हैं, पर आदि से अंत तक एक ही बात उसने प्रकट करनी चाही है, वह है कि प्रेम आवश्यक है, वह बिना वासना के नहीं हो सकता—उसे अनुशासित करने का परिणाम कभी शुभ नहीं। यह अन्धकार रहेगा

ही—प्रजापति का उद्योग है कि प्रेम वासना मय न हो, स्त्री पतिव्रता बनें—पहले तो प्रजापति के कक्ष में ही मेनका और विद्याधर प्रेम करने लग जाते हैं, फिर अश्विनीकुमार स्वयं प्रजापति को एक प्रेम व्यापार की चौथी भुजा बनाने का निमंत्रण देने आते हैं—अन्त में प्रजापति के मान्य निर्माण की मौलिक असफलता दिखाने के लिए मर्त्यलोक से लौटे, प्रेम के धर्म-अनुशासित रूप से चिढ़े हुए मेनका और विद्याधर आते हैं—अन्त में हारकर प्रजापति उन्हें भी परस्पर प्रेम करने की छुट्टी दे जाते हैं।

इसी से यह भी प्रकट होता है कि 'धर्म' जीवन के लिये विष है, धर्म से मनुष्य का जीवन अन्धकार से भर उठता है। धर्म और प्रेम मे विरोध है।

इस प्रणाली के विषय की दृष्टि से इसकी विवेचना में केवल यही कहा जा सकता है कि साध्य की सिद्धि के लिए इतना दिव्य और अद्भुत कथानक खड़ा करना श्लाध्य नहीं कहा जा सकेगा। वर्तमान काल में अन्य कारणों से भी धर्म की भर्त्सना हो रही है, सैक्स के स्त्री-पुरुष के, संबंध की चर्चा भी नये नये रूप में नयी दृष्टि से हो रहा है—प्रेम और वासना का अटूट संबंध सिद्ध करके और धर्म को जीवन का विष बनाकर और उसका प्रतिपादन प्रजापति के उद्योग को दुर्वान्त असफलता से करा के नाटककार मानव और समाज को क्या देन देना चाहता है? कथानक की महानता और विषय की साधारणता के कारण संपूर्ण नाटक एक अनोखी सी वस्तु प्रतीत होने लगता है—

पर यदि विषय को महान मान लिया जाय। जीवन के 'अन्धकार' का प्रश्न जीवन के मूल से संबद्ध है। वासना और प्रेम का संघर्ष सतत है—प्रेम मे दिव्यता है, प्रकाश है, वासना उसका अंधकार है—अंधकार की अपनी उपयोगिता है, वह स्वयं मनुष्य के लिये अनिवार्य है, उसका दमन, उसे दूर करने का प्रयत्न ही अवाञ्छनीय है। जीवन के इस अन्यतम सत्य को उद्घाटित करने वाला यह विषय महान है तो नाटक का कथानक उसको और भी महान कर देता है। एक आश्चर्य का, अद्भुत का भाव नाटक की भूमिका में निरंतर है और उसके अवाक् उत्फुल्ल पट पर प्रेम की

रंगीनी और उसके अनुशासन का अवसाद, बुद्धि और मस्तिष्क की पराजय की खिन्नता, ये सब चित्र विचित्र दिव्य पात्रों की अभिनय भंगिमा में अत्यधिक खिल उठे हैं। नाटककार ने उस समस्त गंभीर गतिमय वातावरण में संवादी स्वर की भांति अश्विनीकुमारों की वार्ता गूंथ दी है, जिससे विषय की गंभीरता विचलित नहीं होती, स्मित हास्य से होठ अवश्य फड़क उठते हैं और कहना पड़ता है कि देवसृष्टि में वृद्ध अश्विनीकुमारों को देखकर यदि प्रजापति भी मजाक करने के लिये उत्सुक हो जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं।

'उत्सर्ग' और 'अंधकार' की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें नाटककार ने भू-लोक—पृथ्वी का प्रेतलोक अथवा स्वर्ग—ब्रह्मलोक से संबंध स्थापित किया है। उत्सर्ग में उसने आधुनिक युग के विज्ञान की चरमोन्नति की कल्पना करली। 'अन्धकार' में उसने पुराण प्राप्त कथा को ही साधन बनाया है। लेखक की विभिन्न उक्तियों में काव्यमयता यहाँ भी विद्यमान है।

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास ने प्रायः जितने पूरे नाटकों के लिखे हैं, उतने ही एकांकियों के। उनके एकांकियों के निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—

१—सप्त रश्मि। २—एकादशी। ३—पंचभूत।

इस प्रकार २३ एकांकी तो इन संग्रहों में हैं। एक 'एकांकी अलग स्पर्द्धा' नाम से प्रकाशित है। स्पर्द्धा ही सेठ जी का सब से प्रथम एकांकी है।

'स्पर्द्धा' के संबंध में नाटककार ने लिखा है "यह नाटक मेरी तीसरी जेल यात्रा के समय नागपुर जेल में एक ही दिन में लिखा गया था। 'सरस्वती' के जनवरी सन् ३६ के अङ्क में यह प्रकाशित हुआ है। और पुस्तकाकार यह सं० १९९२ में प्रकाशित हुआ। सप्तरश्मि' सन् १९४० में छपा। 'पञ्चभूत' और 'एकादशी' सं० १९९६ में।

स्पर्द्धा—यह 'एकांकी सामाजिक नाटक' है। मूलतः इसका संबंध स्त्री-पुरुष की स्पर्द्धा से है, इसे प्रस्तुत करने के लिए नाटककार ने यूनियन क्लब

के सदस्य मिस्टर शर्मा और सदस्या मिस कृष्णकुमारी में किसी चुनाव के लिए प्रतिद्वन्द्विता की घटना ली है। स्थान यूनियन क्लब का हॉल है। विविध सदस्य आते है, उनकी चर्चा का मुख्य विषय वही संघर्ष है—इसमें भी विशेष आपत्तिजनक बात यह प्रतीत होती है कि मिस कृष्णकुमारी के विरुद्ध कोई विज्ञापन बाँटा गया है, जिसमें मिस कृष्णकुमारी के चरित्र पर गन्दे आक्षेप हैं। इसी विषय पर विचार करने के लिए आज यूनियन की बैठक भी है। पुरुषों को इस बात का खेद है कि पुरुषों की ओर से परित्राण-शूरता के विरुद्ध यह काम हुआ है। शर्माजी के विरुद्ध भी पर्चा बाँटा गया, पर उससे क्या? पुरुषों की ओर से स्त्रियों की रक्षा होनी चाहिए। सभा आरम्भ होने पर मिस विजया की ओर से शर्माजी पर निन्दा और भर्त्सना का प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है। अधिकांश सभ्य प्रस्ताव से सहमत प्रतीत होते हैं। मिस्टर शर्मा सफाई में पर्चे के सम्बन्ध में अपनी निर्दोषता स्वीकार करते हुए भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि स्त्री पुरुष की बराबरी का दावा कर उससे संघर्ष और स्पर्द्धा के लिए उतरी है तो उसे फिर पुरुष की परित्राण-शूरता पर निर्भर नहीं रहना होगा। संघर्ष तो संघर्ष है। इस मत को कृष्णकुमारी भी स्वीकार करती है और वे विजया से प्रस्ताव वापिस ले लेने की प्रार्थना करती हैं। नाटक समाप्त हो जाता है।

सभा से पूर्व का वातावरण बहुत कुछ क्लब जैसा ही होता है—जितने सदस्य क्लब में आये हैं उनमें से मिस्टर वर्मा प्रत्येक विषय को बहुत लाइटली, हलकेपन से, लेते है—ऐसा बहुतों का आक्षेप है और वे स्वयं स्वीकार करते है; पर सब से गहरी बात भी वही कहते हैं—वह साधारण समुदाय से भिन्न प्रकार से सोचते हैं—और उनका मत है कि "अपवाद समाज का जीवन है", दूसरों के अपवादों से हमारे हृदय को आनन्द होता है। अपवाद एक दूसरे की फिसलन को ढाक कर हर एक को सुख देता है। अपवाद के बिना मनुष्य-समाज के वार्तालाप मे कोई आनन्द रहेगा ही नहीं।"

स्पर्द्धा में स्पष्ट ही दो वातावरण मिलते हैं—एक सभा के पूर्व का दूसरा सभा-सम्बन्धी। सभा से पूर्व का क्लब-जीवन नाटककार के नाटक को सजीव

बनाने, और उसमें केवल वाद-विवाद सभा का रूप न आ जाय इससे बचाने तथा आने वाले यथार्थ काण्ड की सूचना देने के लिए चुना है—अतः वह संस्कृत नाट्य-शास्त्र के विष्कम्भक की भांति है। वही यूनियन क्लब थोड़े परिवर्त्तन में सभा का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इस एकांकी में दो दृश्य हैं। दोनों को एक स्थल पर एक क्रम में नाटककार ने उपस्थित कर दिया है, फलतः अन्तिम भाग निर्जीव प्रतीत होने लगता है, और चरम-बिन्दु नाटक में नहीं आ पाता। नाटककार ने चेष्टा की है कि वाक्-विदग्धता आये, पर बुद्धि और तर्क के घेरे में नाटकत्व और वाक्वैदग्ध्य घिर गये हैं। घटनावली रहित एकांकी नाटकों में इस बात पर ध्यान रखने की बड़ी आवश्यकता है कि एक तो उसमें जड़ता न आ जाय, दूसरे उसमें कथोपकथन किसी वाद-विवाद भवन का दृश्य न धारण करले।

सप्तरश्मि में सात एकांकी हैं—धोखेबाज, कंगाल नहीं, वह मरा क्यों? अधिकार लिप्सा, ईद और होली, मानव-मन, मैत्री।

धोखेबाज व्यवसायी जगत के नैतिक-पतन का चित्र उपस्थित करता है, और एक प्राचीन कहावत को चरितार्थ करता है—"बनी के सभी बिगड़ी का कोई नहीं।" सेठ दानमल के मुनीम ने अपना नकद 'हक्क' लेकर—हजारों अपनी गांठ में बांध कर ऊने के दूने दामों की अदायगी में कई व्यक्तियों का पोस्टडेटेड चैक दिलाये हैं—किसी को खान के दाम, किसी को मकान के दाम, सेठ दानमल ने अपने दो सहपाठी मित्रों को भी ऐसे चक दिए हैं। आशा है शीघ्र ही रुपया आ जायगा। पर अकस्मात भाव गिर जाता है, सेठ का दिवाला निकल जाता है—तब मुनीम रूपचन्द उपरोक्त सब 'आसामियों' द्वारा दानमल पर धोखेबाज होने का अभियोग चला देता है—रूपचन्द स्वार्थी है, दानमल उदार। रूपचन्द के व्यवहार से प्रकट होता है कि वह अपने स्वामी को धोखा देकर अपने घर को भरने में प्रयत्नशील है—सेठ दानमल का विचार है :

"मैं स्वयं के लिए नहीं कमाना चाहता। मैं चाहता हूँ कि इस कमाई से देश की सेवा करूं। आपस वालों की, गरीबों की भलाई करूं......रूपचन्द।

मैं साध्य को प्रधान चीज मानता हूँ साधन को गौण। मेरा साधन देश-सेवा और गरीबों का उपकार है।" इस पर जब रूपचन्द अभियोग चलाता है इस आशा में कि "वह (सेठ दानमल) फौजदारी में कभी जेल जाना मंजूर न करेगा और इन सब चैक्स का पेमेण्ट अपने मुल्क से रुपया मंगाकर करेगा", तब रूपचन्द के साथ उसके वे सहपाठी मित्र भी हैं, और वे यह कहते सुने जाते हैं : "मैंने कानपुर मे अपना मकान रख कर उसे पैंतालीस हजार रुपया भुगतान के लिए दिया था।" दानमल का दिया हुआ उपकार उसके स्वयं के लिए भर्त्सना बन कर खड़ा हुआ है। और यही चोट विश्वासघात और मैत्री के नैतिक पतन की चोट उसे ग्रस लेती है। कोर्ट से हार्टफेल हो जाने पर जब दो वृद्ध टिप्पणी करते होते हैं कि 'रुपये की चोट ऐसी ही होती है।' तो एक युवक का घृणा पूर्ण उद्गार 'वेवकूफ' चोट के यथार्थ रूप को स्पष्ट कर देता है। दानमल में जहाँ उदारता है, वहां भावों का संयम भी अन्त में दिखायी पड़ता है—वह कहीं भी उन व्यक्तियों को दोषी नहीं बताता जिन्होंने उस पर झूठा दोषारोपण किया है। वह उनको धोखेबाज नहीं बताता जो यथार्थ में हैं पर धनलोलुपता के कारण उसे धोखेबाज बना रहे हैं—वह उनके अभियोग को स्वीकार करता है—पर अपना यथार्थ दोष वह यह मानता है कि उसने साध्य से साधन को कम महत्त्व दिया है '......पर शायद साध्य से साधन को कम महत्त्व नहीं है। और सफलता ? सफलता को तो सब से अधिक।" और अन्त में मजिस्ट्रेट से वह इन शब्दों में प्रार्थना करता है :—

'दीजिए, मजिस्ट्रेट साहब, मुझे ऐसी सख्त ......ऐसी सख्त'..... सजा दीजिए कि चाहे सारा समाज, धर्माचार्य, समाज-सेवक, और दरिद्र नारायण के झूठे, लक्ष्मीनारायण के सच्चे पूजक ये राजनीतिक नेता, रुपये का पूजन करें, श्रीमानों का चरण-चुम्बन करें, पर मेरे मन में, मेरे छोटे से हृदय में, इसकी प्राप्ति की अभिलाषा के अवशेष का अवशेष भी शेष न रहे।' "

इस एकांकी में शान्त व्यवसायिक आरम्भ होता है, फिर उग्रता आती है, गति की गहरायी बढ़ जाती है, फिर शान्त प्रवाह चलता हुआ दानमल

के आवेश में उग्र तथा याचना में पराकाष्ठा पर पहुँच कर मृत्यु में पर्यवसित हो जाता है। यह एकांकी तीन दृश्यों में है। दूसरे दृश्य में 'पाट' का दृश्य दिया गया है, वहाँ गिरती हुई दशा में कैसा दृश्य होता है इसके द्वारा सजीव हो उठता है, पर एकांकी के मूल कथा-स्रोत में इसका उपयोग दानमल को फाटके में घोर घाटे का धक्का लगा, यह सूचना देने के लिए ही है। यह सूचना प्रथम अङ्क के अन्त होते होते रूपचन्द की विक्षिप्त टेलीफून-व्यापारिकता से लग जाता है। यदि इस दूसरे दृश्य की अवतारणा पहले और तीसरे अङ्क में समय का व्यवधान उपस्थित करने के लिए की गई है तो भी क्रम से ठीक नहीं बैठता—पहले दृश्य का दूसरे से कथा और अभिप्राय की दृष्टि से सीधा संबंध नहीं। दूसरा दृश्य सूचनिका दृश्य है, वह प्रवेशक या 'अंकावतार' हो सकता था। जिसे लेखक ने 'उपसंहार' बताया है वह नाटक का मुख्य अंश है—वही नाटककार को अभिप्रेत भी है। उसे प्रथम दृश्य से सम्बद्ध होना चाहिए था। अन्तिम दृश्य को 'उपसंहार' नाम देकर 'समय' के व्यवधान की समस्या तो हल करदी, पर नाटक की सूत्रबद्धता विच्छिन्न करदी। नाटककार ने भूमिका में 'उपसंहार' के प्रयोग के सम्बन्ध में अपना मत दिया है :

'यदि किसी एकांकी में एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकते हैं। 'स्थल-संकलन' जरूरी नहीं है, पर 'काल-संकलन' होना ही चाहिए। किसी-किसी एकांकी नाटकों के लिए भी 'काल-संकलन' अवरोध हो सकता है। ऐसी अवस्था में 'उपक्रम' या 'उपसंहार' की योजना होनी चाहिए।" उपसंहार के उपयोग और उसके महत्त्व के सम्बन्ध में अलग विचार किया गया है। कम से कम यहाँ 'उपसंहार' यथार्थतः सहायक नहीं है। 'उपसंहार' से पहले नाटक का वस्तु और अभिप्राय की दृष्टि से एक परिपूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिए—वह इस एकांकी में नहीं हो पाती।

कंगाल नहीं—एक दृश्य की एक झांकी है। कथा भी अत्यन्त सूक्ष्म है पर मर्मस्पर्शिनी है। संग्रामसिंह और दुर्गावती के वंशज सिलापरी गाँव में

सरकार से १२० रुपया वार्षिक पेन्शन पाते हुए जीवन निर्वाह करते हैं। सिलापरी गाँव से भी एक सो बीस रुपया बचते हैं। पर इस बार गाँव की आय नहीं होगी 'सब हार में फिरी पड गई'' और ''लगान तो इस साल सरकार ने मुल्तवी कर दिया।'' ऐसी दशा में गुजारा कैसे हो? सरकार ने अकाल के कारण काम खोला है, जिसमें कंगाल काम करते हैं। ये लोग उसी में काम करने के लिए सरकार में प्रार्थना पत्र भेजते हैं। पर सरकार वह प्रार्थना नहीं स्वीकार करती—क्यों—वह इस एकांकी के एक पात्र "बड़े राजा" से सुनिये—"माँ, हमें पिन्सन मिलती है, हम महाराजाधिराज राज राजेश्वर संग्रामशाह और महारानी दुर्गावती के कुल के हैं, हमारी बड़ी इज्जत है, हमारा बड़ा मान है, हमारी आमदनी चाहे तीन पैसा रोज ही हो, पर हमें कंगालों की रोजनदारी, दो आना रोज, कैसे मिल सकती है? हमारी भरती कंगालों में कैसे की जा सकती है?'—नाटक मर्मस्पर्शी है।

वह मरा क्यों?—कार्टून एकांकी कहा जाय तो उचित होगा। एक गोरा सिपाही मर जाता है—वह क्यों मरा इसकी जांच के लिए मिलिटरी के 'बड़े डाक्टर' शाक के बाजार में जाते हैं, वहां कुम्हड़े को कछुआ समझ कर अनुमान करते हैं इसे खाकर मरा होगा, मिठाई वाले की दूकान पर पिस्तों का वर्फी देख कर उसे सड़ी मिठाई समझ कर निश्चय करते हैं इसे खाकर मरा होगा—दोनों स्थानों पर उनका भ्रम दूर कर दिया जाता है। सिनेमा हाउस में भी वे ऐसी ही ऊहापोह करते हैं। अन्त में पता चलता है कि वह अपनी मेम साहिबा की एक खास बीमारी के एक खास इन्फैक्शन से मरा था। तब कहीं वह भूचाल बन्द होता है। यह बीसवीं सदी में 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा' का दृश्य प्रतीत होता है और आधुनिक मैडीकल-विज्ञान के वेत्ताओं का खोखला पन भी प्रकट करता है।

अधिकार लिप्सा—राजा अयोध्यासिंह जमीदार के लड़कों ने जमीदारी का काम सम्हाल लिया है और उनसे कह दिया है आप भजन करें, आराम करें। पर राजा साहब को इस प्रकार अधिकार छिन जाना पसन्द नहीं। तब वे एक युक्ति सोचते हैं—बीमार पड़ने का बहाना करते हैं।

अब तो दोनों लड़के, डाक्टर, वैद्य, हकीम, ज्योतिषी, तान्त्रिक सभी आते हैं। नगर के प्रमुख भी मिलने आते हैं। राजा साहब अपनी चाल पर प्रसन्न होते हैं। डाक्टर को लगता है कि बीमारी कुछ नहीं पर राजा साहब कहते हैं तो कोई गम्भीर बीमारी होगी ही—और तीनों का, डाक्टर, वैद्य और हकीम का एक साथ इलाज आरम्भ होता है। इस इलाज में वे एक दिन में मर जाते हैं।

जैसे 'कैसे मरा' की कथा वस्तु विलक्षण थी, वैसे ही इसकी भी है, यह भी व्यङ्ग और हास्य का एकांकी है, पर अन्तर में पुत्रों की अधिकार के लिए निर्ममता दर्शाने वाली है। वृद्ध की अधिकार चेष्टा तो वत्सलता लिए भी है, पर पुत्रों में प्रेम का जैसे अभाव है। 'उपसंहार' का इसमें भी प्रयोग किया गया है, पर वह नाटकीय व्यापार के परिणाम की सूचना देने के लिए तथा जमींदार, के पुत्रों की यथार्थ मनोवृत्ति को एक झांकी और करने के लिए। 'काल' संकलन की समस्या हल करने के लिए नहीं। अधिकार-लिप्सा पर इसमें व्यंग है, वैद्य, हकीम और डाक्टरों का उपहास-सा है।

ईद और होली—तीन दृश्यों का एकांकी है। कथा सामयिक भी है और चिरन्तन भी। दो बालक हैं, एक हिन्दू का लड़का दूसरा मुसलमान की लड़की। लड़का रामा, लड़की हमीदा। हमीदा ईद की सिवइयां लाती है, रामा को भी खिलाती है। रामा की मां आकर नाराज होती है, ब्राह्मण को भ्रष्ट कर दिया मलेच्छ ने। अलावख्श लड़की को ले जाता है, काफिरों को गाली देते हुए। तभी समाचार मिलता है कि हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हो गया। अलावख्श, हमीदा का बाप, लाठी लेकर जाता है, तब तक हमीदा फिर रामा के घर में आ घुसती है। अलावख्श लौट कर रतना (रामा की मां) के घर में आग लगा देता है। रामा और हमीदा छत पर खेल रहे हैं। आग की लपटें उन्हें होली की लपटें प्रतीत होती हैं। अलावख्श हमीदा की आवाज सुनकर छत पर से उसे बचाने आता है और अन्तिम क्षण पर रामा को भी बचा ले जाता है-तब अलावख्श रतना से कहता है-"इन बच्चों ने, बहन, इन बच्चों ने हमें मलेच्छ और काफिर से भाई और बहन बना दिया।"

इस नाटक में कोई विशेष विचारणीय बात नहीं। हाँ, जिस परिवर्तन लाने वाली घटना की कल्पना की गई है, वह किंचित दुर्बल इस लिए है कि जैसी मानसिक स्थिति में अज्ञातवश को 'रामा' के बचाने की ममता हो सकती है, उसका यथार्थ दिग्दर्शक संकेत नहीं मिलता। मनुष्य में करुणा स्वाभाविक है, पर जब मनुष्य जानते हुए उसे ठेलकर हो आगे बढ़ा हो तो उसके मन को बदलने के लिए बहुत प्रबल उत्तेजना वाली परिस्थितियाँ चाहिए। फिर भी जिस करुणा भाव की विजय करायी है वह श्लाघनीय कही जायगी। नाटक कर्कशता में से स्नेह का स्रोत प्रस्फुटित कर देता है।

मानव-मन में एक साधारण समस्या पर विचार है। किसी स्त्री का कोई पति दीर्घकाल तक बीमार रहे तो क्या वह उससे न ऊबेगी? इस नाटक के तीन भाग हैं। पहला 'उपक्रम'—भारती और पद्मा में व्रज-मोहन की पत्नी को लेकर चर्चा है। व्रजमोहन की पत्नी कालेज में पढ़ी है—पहले तो व्रजमोहन को वह बहुत प्यार करती है वह क्षय से पीड़ित हो जाता है। दो साल तक सुश्रूषा करती है। दो साल हो जाने पर वह उनका साधारण प्रबंध कर क्लब वगैरह जाने लगती हैं। पद्मा को इसमें कुलटा-पन लगता है। भारती कहती है यह स्वाभाविक है, मन ऊब सकता है।—यह उपक्रम। पद्मा के पति कृष्णवल्लभ बीमार हो गये—उन्हें दो साल होने आये। पद्मा निरंतर उनके पास। नाथद्वारे से निमंत्रण आता है। कृष्णवल्लभ के बहुत कहने पर पद्मा नाथद्वारे के उत्सव में सम्मिलित होने को तय्यार हो जाती है। नाटक का मुख्य भाग।

जब पद्मा तय्यार हो रही है, भारती आती है—उसकी टिप्पणी है—"बहन, बरदाश्त करने की भी हद होती है।···मृत के साथ जीवित अपने को मृत नहीं समझ सकता। आदर्श की बात दूसरी है। बहन, मानव··मानव मन।······

नाटक-कार ने आदर्श और यथार्थ में यथार्थ की विजय करायी है। नाटक-कार उसे यथार्थ मानता है। तभी उसने कहा है 'बहन आदर्श की बात दूसरी है'। इस नाटक से नाटक-कार क्या

अभिप्राय प्रकट करना चाहता है ? केवल 'मानव मन' की दशा का चित्र उपस्थित करना चाहता है, अथवा उसका औचित्य सिद्ध करना चाहता है विषाद और अवसाद में घिरा हुआ मानव-मन क्या सचमुच वह चाहता है। जिसकी ओर भारती ने संकेत किया है, और जिसमें ब्रजमोहन की स्त्री प्रवृत्त हुई थी। यह विचारणीय है। मानव-मन की अनुभूतिया ऐसे अवसरों पर अलग अलग हो सकती है। क्योंकि लेखक ने नाटक का उपयोग एक बात को सिद्ध करने के लिए किया है इसलिए 'उपक्रम' उसके पूर्व तर्क की तरह और उपसंहार परिणाम का तरह आया है। 'उपक्रम' और मुख्य दृश्य मे दो ढाई साल का अन्तर है।

इसी शैली पर 'मैत्री' है। पहले 'उपक्रम' में दो मित्रो की अभूतपूर्व प्रगाढ़ मित्रता की सूचना है। मुख्य दृश्य में चेयरमैनी के चुनाव में खड़े होने के सम्बन्ध में दोनों मे मालिन्य हो जाता है। फिर 'उपसंहार' है जिससे दोनों फिर मिल जाते हैं और इतना विकार उत्पन्न कराने वाली चेयरमैनी को धता बता देते हैं।

'सप्त रश्मि' के किसी भी एकांकी मे 'गीत' या संगीत को स्थान नहीं मिला। 'कंगाल नहीं' को छोड़कर सभी कवि-कल्पित माने जायँगे। इनमें से अधिकांश अवसाद मय भावो से पूर्ण हैं।

सप्तरश्मि के एकांकियों में नाटक-कार ने भाव-बिन्दु (Idea) को प्रकट कर देना ही अपना कर्त्तव्य समझा प्रतीत होता है—बहुत स्थूल और संक्षिप्त कथानक, कुछ प्रमुख तर्क और आवश्यकता से भी कम घटनायें, शब्द अपने अर्थों तक ही सीमित—प्रायः ये इस संग्रह की विशेषतायें थी। 'पञ्चभूत' में नाटक-कार कुछ अन्य विशेषतायें प्रकट करता है। पञ्चभूत में पांच एकांकी है, पांचों एकांकी ऐतिहासिक हैं। नाटक-कार ने 'निवेदन' में सूचना दी है कि "इस संग्रह में संग्रहीत निम्न-लिखित नाटकों की कथा निम्न-लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थों से ली गयी है—

१ जालौक और सिखारिणी—	संस्कृत का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राज-तरंगिणी' (कश्मीर का इतिहास)
२ चन्द्रापीड और चर्मकार—	

३ शिवाजी का सच्चा स्वरूप—सर यदुनाथ सरकार का प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रन्थ—'शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स,'

४ तिमोर की रक्षा—अरविन का अंगरेजी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेटर मुगल्स'

५ कृष्णाकुमारी—कर्नल टाड का प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रन्थ तथा महामहोपाध्याय रायबहादुर डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का प्रसिद्ध हिन्दी ग्रन्थ 'राजपूताने का इतिहास'

'जालौक और भिखारिणी' में काश्मीर के राजा जालौक के प्रजा-पालन और अहिंसा का अद्भुत दृश्य है। जालौक की प्रतिज्ञा है कि "आमिष अथवा अन्य किसी प्रकार के अन्न के अतिरिक्त यदि कोई भूखा रहता है, तो बिना उसे तृप्त किये मैं भोजन नहीं करूँगा।" उसने यह भी घोषणा कर दी है कि "राज्य में मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु, पक्षी तक की हत्या नहीं होगी।" एक अद्भुत भिखारिणी आती है। वह भोजन के लिए नरमांस चाहती है और वह न मिलने पर भूखों रहना चाहती है। राजा उसको अपने शरीर का मांस देना चाहता है—लोग कहते हैं यह हत्या तो नहीं—राजा बतलाता है यह हत्या और हिंसा नहीं बलिदान है। ऐसे राजा को कौन अपना मांस देने देगा। उसकी स्त्री अपने शरीर का मांस देने को प्रस्तुत है। राजा कहता है—यह "तुम्हारा बलिदान होगा, किन्तु मेरे लिए यह हिंसा होगी।" प्रजा के असंख्य पुरुष अपने शरीर का मांस देना चाहते हैं—राजा उन्हें भी वही तर्क देता है और कहता है "प्रतिज्ञा पूर्ति मेरी होना है, वह आपके मांस से हो, यह कैसे हो सकता है।" राजा अपने शरीर का अङ्ग काटने को सन्नद्ध होता है कि भिखारिणी हाथ पकड़ लेती है। छः दृश्यों में नाटक समाप्त हुआ है। स्थल परिवर्तन होता है पहले राज-प्रासाद, फिर विजयेश्वर का पथ, राज्यप्रासाद का अभ्यन्तर-आलय, श्रीनगर का एक मार्ग—आदि। हिंसा और बलिदान के अन्तर को स्पष्ट करने की ओर नाटककार का विशेष ध्यान रहा है। राजा की प्रजा-वत्सलता भी उभरकर आती है।

"चन्द्रापीड़ और चर्मकार"—में तेरह दृश्य हैं और चौदहवां 'उपसंहार' है। संक्षेप में कथा यह है: श्रीनगर के बाहर त्रिभुवन स्वामिन् का मन्दिर बन

रहा है—वहाँ चर्मकारों की बस्ती है। राजा ने उन्हें बहुतसा धन और पक्का मकान देकर उनसे उनका स्थान ले लिया है। रैदास नाम का चर्मकार अपनी झोंपड़ी नहीं छोड़ना चाहता। राजा का प्रलोभन भी नहीं स्वीकार करता, भय और दण्ड के लिए प्रस्तुत है। वह, उसकी स्त्री और दोनों बच्चे उस स्थान के लिये अपने प्राण तक उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हैं। राजा चन्द्रापीड़ बलपूर्वक भूमि नहीं लेगा—वह तो सब का राजा है, अस्पृश्यों का भी। वह रैदास को अपने यहाँ बुलाता है, और राजप्रासाद से बाहर ऐसे स्थान पर खड़े होकर संभाषण करता है जहाँ से उसकी छाया राजा पर न पड़े। एकत्रित जनता में चर्मकार के उपहास का भाव है। कुत्ता महलों में चे रोक जा सकता है, पर अस्पृश्य मनुष्य नहीं। रैदास को क्षोभ होता है। चन्द्रापीड़ को भी क्षोभ होता है—क्यों उसने उसे अपने यहाँ बुलाकर उसका अपमान किया। तब वह सभी धर्माचार्यों और वृद्ध जनों की विनम्र अवहेलना कर पैदल रैदास के यहाँ जाता है—युवक उसके साथ हैं—चन्द्रापीड़ रैदास की झोंपड़ी पर पहुँच कर कहता है—"हाँ, रैदास, आज मेरे द्वारा तुम्हारा अपमान हुआ है, कदाचित् बिना सोचे, बिना समझे, कदाचित् पुरानी रूढ़ियों का मुझ पर भी अनजाने प्रभाव रहने के कारण। उसी""उसी अपमान का परिमार्जन उसी पाप का प्रायश्चित् करने मैं तुम्हारे घर पर आया हूँ।"

वह चर्मकार तब अपना झोंपड़ा राजा के श्रीचरणों में भेंट कर देता है। राजा आश्वासन देता है—"देखो रैदास, त्रिभुवन स्वामिन् के मन्दिर में जिस मूर्ति की स्थापना होगी, उसका नाम भी केशव भगवान् होगा; और ऐसी व्यवस्था की जायगी जिसमें तुम लोगों को भी उनके दर्शन हों।',— तब उपसंहार में एक गीत गाते हुये रैदास के परिवार को मन्दिर की ओर बढ़ते देख रहे हैं। नाटक केवल भाव-बिन्दु को प्रकट नहीं करता, उसमें संयमित रस का भी सिंचन करता है। शब्द केवल अर्थ मात्र ही प्रकट नहीं करते। मन्थरगति से नाटक अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है, पर अन्तर में तीव्र संघर्ष और उग्रगति को गर्भित किये हुए हैं। उपसंहार का भी उचित उपयोग इसी नाटक में हुआ है। दृश्य अधिक हैं, और स्थल भी बदलते

है। इससे साधारणतः विन्यास में शिथिलता आ सकती थी। पर भाव-बिन्दु ठीक रूप से पुष्ट और विकसित होता चला गया है– उससे वह शिथिलता दब जाती है। विषय एक सामयिक समस्या के ऐतिहासिक सादृश्य से संबंध रखता है इससे और भी महत्वपूर्ण हो गया है।

'शिवाजी का सच्चा स्वरूप' बहुत छोटी और साधारण रचना है। सेनापति आबाजी सोनदेव कल्याण को जीत कर और लूट कर लौटे हैं। वहाँ के सूबेदार अहमद की अत्यन्त सुन्दरी पुत्र वधू को शिवाजी के लिये तोहफ़े की भाँति लाये हैं, पर शिवाजी उसका मां की भांति आदर करते हैं और आज्ञा प्रचारित करते हैं कि "भविष्य में अगर कोई ऐसा कार्य करेगा तो उसका सिर उसी समय धड़ से जुदा कर दिया जायगा।"—

'निर्दोष की रक्षा'—यह हिन्दू-मुस्लिम समस्या का ऐतिहासिक सादृय है। ६ दृश्यों में है। शुभकरण की पालकी में बच्चों की आतिशबाजी से आग लग जाती है। वह तो बुझा दी जाती है, पर इससे शुभकरण के शरीररक्षकों और दिल्ली के पंजाबियों में जूतमपैजार हो जाती है। दूसरे दिन पिटा हुआ शुभकरण का सिपाही कई मित्रों को साथ रात के घटनास्थल पर पहुँचता है, वह फिर दंगा होता है। जिसमें हाजी हाफिज मारा जाता है। इससे सारी घटना को हिन्दू-मुसलमानों का प्रश्न बना दिया जाता है। मुसलमानों का तीव्र विरोध यहाँ तक बढ़ता है कि मोहम्मदशाह हिन्दोस्तान के बादशाह की आज्ञा की परवा न करते हुये शुभकरण का आफीसर शेर अफ-गनखाँ और रोशनुद्दौला शुभकरण की रक्षा करते हैं, वे उसे मुसलमानों को नहीं सौंपते—बड़ी खून खराबी होती है। अन्त में शेरअफगन को हम यह कहते सुनते हैं, "तुम्हारे लिये नहीं, शुभकरण, एक उसूल के लिये। जिस झगड़े का मजहब से कोई ताल्लुक नहीं, उसे मजहबी शक्ल दी गयी। बिना वजह तुम्हारी कुर्बानी मांगी गया। मैं एक बेकसूर को इस तरह कुर्बान नहीं कर सकता, और इसके लिये अभी भी इससे भी ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त करने को तैयार हूँ। मेरे दोस्त रोशनुद्दौला तैयार हैं। शुभकरण, मुझे हिन्दुस्तान के बादशाह मोहम्मदशाह से ज्यादा ""दुनियाँ के बादशाह खुदावन्द करीम पर भरोसा है।"

'कृष्णाकुमारी' कथानक प्रसिद्ध ही है। मेवाड़ की अत्यन्त सुन्दरी कन्या—उसे मारवाड़ के महाराजा मानसिंह भी चाहते हैं और जयपुर के राजा जगत-सिंह भी। सिंधिया महाराजा मान की ओर से आया तो राणा को फुसलाने पर प्रस्ताव करता है कि कृष्णकुमारी का विवाह उससे कर दिया जाय तो जिस संकट की मेवाड़ को संभावना है वह टल जायगा। सिंधिया क्षत्रिय नहीं शूद्र है—तब निश्चय होता है कि कृष्णाकुमारी को मार डाला जाय—कृष्णाकुमारी प्रसन्न वदन विष पीकर देश के लिये बलि हो जाती है। इसमें 'उपक्रम' और 'उपसंहार' दोनों का उपयोग किया गया है और प्रायः ठीक ही उपयोग हुआ है। मुख्य नाटक अपने में पूर्ण है। उपक्रम और उपसंहार के मुख्य नाटक में चार दृश्य हैं—अंत की ओर बढ़ते-बढ़ते कृष्णाकुमारी को नाटककार ने वाचाल बना दिया है और उसके वक्तव्य भाषण का रूप ग्रहण करने लगे हैं—जो लेखक के भाव-बिन्दु को तो स्पष्ट करते हैं नाटक के ओज को घटा देते हैं—कृष्णाकुमारी में दार्शनिकता मुखर हो जाती है। इस नाटककार का स्वाभाविक संयम यहाँ छूट गया है।

'सप्तरश्मि' के नाटकों से पञ्चभूत' के नाटक बड़े हैं और संविधान तथा तन्त्र (technique) की दृष्टि से उतने आदर्श भी नहीं हैं। पर इनमें भाव-बिन्दु का विकास है, नाटकीय गति का समावेश है। हृदय स्पर्शिता का अधिकपुट है। इनमें 'उपक्रम' और 'उपसंहार' का अधिक उपयुक्त प्रयोग हुआ है, अधिकांश नाटकों में चरमोत्कर्ष ठीक स्थल पर आया है।

और इससे आगे 'एकादशी'—ग्यारह एकांकी नाटक। इनमें से 'सहित या रहित' तथा 'अट्ठ नवे किसे' काश्मीर के राजा यशस्कर के न्याय की प्रशंसा करते हैं—कैसे उसने दूध का दूध और पानी का पानी किया। पहला चार दृश्यों में है। यशस्कर का अन्तिम कथन इस नाटककार का अपना मन्तव्य हो सकता है, जिसे प्रकट करने के लिए उसने यह नाटक लिखा—

"ज्ञानादित्यजो न्याय के लिए केवल क्रय-विक्रय पत्र, साक्षियाँ इत्यादि ही यथेष्ट नहीं, परन्तु··· परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य बातों की भी आवश्यकता होती है और इनमें·····इनमें मुख्य है इस बात की पहचान कि कौन सच्चा है और कौन झूठा तथा यह जानाजाता है एक विशेष प्रकार की दृष्टि

से जो न जाने किस प्रकार.....किस प्रकार मनुष्य के अन्ततम तक प्रवेश कर सकता है।" 'अट्ठानवे किसे' में नाटककार ने न्याय के लिए केवल शब्दों पर निर्भर करना उचित नहीं माना, उसने कहा है—"ऐसे प्रसंगों पर न्याय करने के लिए शब्दों को नहीं, भावना को महत्त्व रहता है।"

सच्चा धर्म, बाजीराव की तस्वीर, सच्ची पूजा, प्रायश्चित, भय का भूत, अजीबोगरीब मुलाकात इतिहास अथवा ऐतिहासिक किंवदन्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। 'सच्चा धर्म' प्रश्न करता है कि धर्म सच्चा क्या है—केवल शाब्दिक सत्य कथन, अपने कुल के आचार की निष्ठा या अतिथि और वचन की रक्षा। पं० पुरुषोत्तमजी शिवाजी के पुत्र शंकरजी को अपना भानजा बताते हैं, और सिद्ध करने के लिए औरङ्गजेब के खुफिया के सामने अपने आचार को तिलांजली देकर संभाजी के साथ एक थाली में भोजन करते हैं। 'बाजीराव की तस्वीर' तीन दृश्यों में है—इसका उद्देश्य निजामुल्मुल्क के शब्दों से प्रकट होता है—

"आज मुझे बाजीराव की कामयाबी का सच्चा सबब मालूम हुआ। जो सिपहसालार लड़ाई में सिपाहियों की सिपहसालारी करता है, वही.....वही जब लड़ाई नहीं होती तब सिपाहियों के साथ उनका दोस्त बन उनके साथ अपना घोड़ा चराता और उनसे दोस्त के मानिन्द बातें करता है।"

'सच्ची पूजा' का अभिप्राय यह है कि माधवराव पेशवा पूजापाठ में समस्त समय न लगाये। राजा की सच्ची पूजा प्रजा को भगवान् का स्वरूप मानकर उसकी पूजा है। यह ज्ञान रामशास्त्री के द्वारा मिलता है। केवल एक दृश्य है इसमें। प्रायश्चित इस संग्रह का सबसे बड़ा नाटक है। रघुनाथराव पेशवा ने अपनी स्त्री आनन्दीबाई की प्रेरणा से एक आज्ञापत्र में 'धरावे' के स्थान पर "मारावे" शब्द कर दिया और माधवराव को—अपने भतीजे को मरवा डाला। रघुनाथ पेशवा हुआ—प्रायश्चित की व्यवस्था रामशास्त्री ने दी—"हत्या का प्रायश्चित अपनी स्वयं की हत्या होती है।" रामशास्त्री ने दबावों के पड़ते हुए भी अपना निर्भीक शास्त्र-सम्मत मत दिया। नाटक यहीं समाप्त हुआ। 'उपसंहार' में 'रघुनाथराव' को

दरिद्रावस्था में एक गांव में दिखाया गया है—उसके अन्त समय के ये शब्द इस नाटक का मूल अभिप्राय हो सकते हैं।

"आनन्दी, बुरा काम किया यही नहीं, उसका प्रायश्चित नहीं किया, यही नहीं उसके भले फल भी खाना चाहे..............

"मेरा तो कुछ भी न बचा। पेशवाई गयी.......सतारा गया....... पूना गया......'इस गांव'.......गांव में रह कर सन्ध्या और तर्पण के पानी से नारायण के खून के धब्बे धो रहा हूँ पर.......पर.......(हाथों को देखते हुए) कहाँ मिट रहे हैं वे दाग ?....... × × इस पाप का प्रायश्चित भी यदि मैंने दस वर्ष पूर्व रामशास्त्री की आज्ञानुसार कर दिया होता, तो.......तो भी कदाचित महाराष्ट्र बच जाता, मैं भी स्वर्ग जाता........"

'भय का भूत' मनोरञ्जक एकांकी है। ह्रास कालीन पेशवा बाजीराव की मनोवृत्ति का परिचायक है। बाजीराव द्वितीय एक गाँव में गाँव के एक पटैल का अतिथि बनना चाहता है। पटैल का पुत्र मालोजी अधिक चतुर है। उनके यहाँ भोजन भी नहीं है, और मालोजी कोई व्यवस्था भी नहीं करता। सब को आश्वासन दिला देता है कि एक मन्त्र उसने सिद्ध कर रखा है, उससे सब हो जायगा। खाली पात्र पानी भर भर कर आग पर चढ़ा दिए गये हैं, मन्त्र पढ़ दिया गया है। आशा है सब सामग्री मन्त्र-बल से तय्यार हो जायगी। तभी एक ओर से बन्दूकें छूटने की आवाज के साथ 'अङ्गरेज' 'अङ्गरेज' का शोर होता है। बाजीराव यह सुनते ही हिरण की भांति भाग खड़ा होता है, उसके साथी भी साथ देते हैं। हजारों का माल पड़ा रह जाता है। मालोजी की कुशलता सब से अन्त में प्रकट होती है। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' में तो कथोपकथन भी हैं, इनके अतिरिक्त मुख्य नाटक के जो तीन दृश्य हैं, वे दृश्य ही दृश्य हैं—केवल मूक अभिनय। पहले दृश्य में बाजीराव का दल आता है, गाँव वाले स्वागत करते हैं, मूक प्रणाम द्वारा। दूसरे दृश्य में भोजन के लिए पात्र चढ़ा दिये गये हैं—मालोजी पिताजी से अन्य देवता को नमस्कार कराता है और अक्षत पूजा कर कहता है कि आप प्रत्येक पात्र से जो पाना चाहते हैं वह जा जाकर कहिए—राणोजी वैसा

ही करते हैं। दूसरा दृश्य समाप्त हो जाता है। तीसरे दृश्य में 'अङ्गरेज' 'अङ्गरेज' शब्द सुन कर बाजीराव के भागने का दृश्य है। राणोजी आकर उनसे कहता है—भोजन ''भोजन'' । पर वहाँ कौन किसकी सुनता है। नाटक समाप्त हो जाता है।

'अजीबोगरीब मुलाकात' का सम्बन्ध अवध के नवाब से ईस्ट इंडियन कम्पनी के एक कमाण्डर और उनकी पत्नी की हास्यप्रद मुलाकात से है। दोनों न तो एक दूसरे की भाषा ठीक ठीक समझते हैं, न वस्तुओं को। अंग्रेज दम्पत्ति बड़ी उपहासास्पद अवस्था में पड़ जाते हैं।

तीन सामाजिक हैं—'महाराज' को लेखक ने एकांकी नहीं कहा, 'नाटक' कहा है। यथार्थ में यह दो दृश्यों की ग्रन्थि है—कहानी-कथा कुछ नहीं। एक में एक राजा के यहाँ एक 'महाराज' है—उसका अभिमत है कि 'जन्म के पश्चात् शारीरिक और मानसिक श्रेष्ठता रखने के निमित्त भोजन की ओर सब से अधिक लक्ष्य रखना चाहिए ' ''जैसा भोजन वैसा शरीर, मन, और बुद्धि''''''राजन्, स्पर्श दोष से बड़ा कोई दोष नहीं '''''ब्राह्मण नर श्रेष्ठ नहीं, भूसुर है, इसीलिए आप राजा कहे जाते हैं, पर ब्राह्मण महाराज। महाराज का यह भी कहना है कि—

"अनेक मानने लगे हैं कि यदि वे नरों से देवता नहीं हो पाये हैं, सच्चे भूसुर नहीं बन सके हैं, तो इसका प्रधान कारण भोजन में अविवेक है। स्पर्शास्पर्श में ध्यान की कमी है। इसे और अच्छी प्रकार समझ लेना तथा इस ज्ञान को कार्य रूप में परिणत करते ही वे महाराज, सच्चे महाराज बन जायेंगे।"

तब उत्तरार्द्ध में 'उस ज्ञान' को कार्यरूप में परिणत करने वाले महाराज का दृश्य है - वे एक सेठानी के यहाँ रसोइया है। चूल्हा झोंकते-झोंकते वेष' बुद्धि सब मलिन। 'परसोत्तम मास' आरम्भ हुआ है सारा घर मुनीम-गुमाश्ता, नौकर-चाकर तक, विरम-जवरी रसोई खायेंगे। यानी, पानी भी 'महाराज' को भरना होगा। महाराज की टिप्पणी है—

"महाराज ने, भूसुर ने छत्री वैसे ही नहीं सूदर की भी सेवा करनी है!"

सेठानी के अहंकारपूर्ण उत्तर पर महाराज कहता है—

"ब्राह्मन, कहाँ रा भूसुर, कहाँ रा महाराज?......ब्राह्मन और के काम करवा लायक रह्या है? न जान म्हाँ का कोन-सा पुरखाने या छुआ-छूत""या भूतनी""......या संकली ने.........।" नाटककार ने हिन्दुओं की एक सामाजिक समस्या की ओर बड़ी मार्मिकता से ध्यान आकृष्ट किया है—नहीं उस समस्या का मूल कारण बतलाने की चेष्टा की है।

'व्यवहार' भी सामाजिक एकांकी कहा गया है। एक उदार जमींदार हैं रघुराजसिंह, वे किसानों पर लगान माफ कर देते हैं। बहुत-सा ऋण छोड़ देते हैं। बिना नजराना लिए जमीन दे देते हैं—और अब उनके यहाँ भोज है। अपने पूर्व पुरुषों की प्रणाली के विरुद्ध वे सबको निमंत्रण देते हैं—पर किसानों में कालेज का एक विद्यार्थी कान्तिचन्द्र पहुँच गया। वह सब किसानों को समझाता है कि जमींदार से किसान का कोई व्यवहार हो ही नहीं सकता, इन उपकारों का कोई अर्थ नहीं। वह सबको दावत में जाने से रोक देता है। केवल एक पत्र भेजता है जिसमें ये पंक्तियाँ रघुराजसिंह को चुभती हैं। भक्षक और भक्ष्य का कैसा व्यवहार? —"रघुराजसिंह तब इस निश्चय पर पहुँचता है कि जमींदार रहते हुए कोई जमींदार किसानों का हित नहीं कर सकता। इसी सत्य का उद्घाटन करने के लिए इस नाटक की अवतारणा हुई है।

'बूढ़े की जीभ' को भी सामाजिक एकांकी बतलाया गया है। बुढ़ापे में स्वादेन्द्रिय सबसे बलवान हो जाती है और अत्यधिक बलवान हो जाने पर रोग असाध्य हो जाता है। इसी का रोचक दृश्य वर्णन है। वृद्ध की स्वाद-लोलुपता के कारण उसकी क्षण-क्षण की विविध मनोवृत्तियों का अच्छा नाटकीय चित्रण किया गया है।

सेठ गोविन्ददासजी का 'अष्टदल' नाम का एक और संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसे सेठजी ने आठ सामाजिक एकांकी नाटकों का संग्रह माना है। पहला एकांकी 'जाति-उत्थान' है। कायस्थ शूद्र से क्षत्रिय बनना चाहते हैं, धूसर बनिये से ब्राह्मण, नाई शूद्र से ब्राह्मण। इन तीनों जातियों के तीन

प्रमुख व्यक्ति जाति को उन्नत बनाने की दृष्टि से अपनी अपनी जाति की उच्चता के सम्बन्ध में वेदों और पुराणों से प्रमाण ढूंढ कर लाते हैं पर वे गाँधी की आँधी से परेशान हैं जिसने "स्वराज्य स्वराज्य" चिल्ला-चिल्लाकर यहाँ के लोगों को किसी काम का ही नहीं रखा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब एक हो जाओ, अछूत तक मिल जाओ.........'देखिये न, जाति सभाओं के अधिवेशन तक में कोई नहीं आते।' पर नाई तो विचार करता है कि 'जहाँ तक नाइयों का सम्बन्ध है वे तो कभी न मानेंगे कि वे न्यायी ब्राह्मण हैं' और वह जाति-पाँति तोड़क मण्डल का सदस्य होने का निश्चय करता है! नाटक समाप्त। आर्य समाज द्वारा धार्मिक और सामाजिक उन्नति का जागरण होने से जातियों में इस प्रकार उच्चता प्राप्त करने की भावना उदय हुई थी। स्थान स्थान पर जाति-सभाएं स्थापित हुई थीं। लेखक ने नाटक में तीनों जातियों के सम्बन्ध में विविध प्रमाण भी एकांकी में प्रस्तुत कर दिये हैं। समय की प्रगति और जातीय जीवन की बदली हुई दिशा ने ऐसे जाति-उत्थान को असामयिक बना दिया है यह बात इस व्यंग नाटक से भली भाँति प्रकट हो जाती है।

दूसरा नाटक 'निर्माण का आनन्द' है। निर्मलचन्द्र एम० ए० का छात्र है वह इतना हीन भावना-युक्त है कि बिना 'प्रकाशवती' के साथ पढ़े या उसके द्वारा बिना पढ़ाये गये वह न तो कुछ समझ ही पाता है, न परीक्षा में पास ही हो सकता है। प्रकाशवती उसे प्रेम करती है, और प्रेम से ही उसे पढ़ाती है; पर डाक्टर ज्ञानप्रकाश नाम के प्रोफेसर के आजाने से वह निर्मलचन्द्र से विरक्त हो उठी है। वह ज्ञानप्रकाश की ओर आकर्षित होती है। ज्ञानप्रकाश उसे बताते हैं। 'मनुष्य को मनुष्य बनाये, इस प्रकार के निर्माण करने से अधिक आनन्द दुनियाँ में शायद किसी चीज में नहीं आ सकता। प्रकाश एम० ए० में यूनिवर्सिटी में प्रथम श्रेणी प्राप्त करती है, निर्मल फेल हो जाता है। तब प्रकाश निश्चय करती है। कि निर्माण का आनन्द प्राप्त करने के लिए वह निर्मल से विवाह करेगी। वह कैसा निर्माण? हिन्दू पत्नी का। "हिन्दू पत्नी के निर्माण में भी—निर्माण में भी समर्पण—समर्पण है।"

'सुदामा के तन्दुल' एकांकी में उस मिनिस्टर का चित्र दिया गया है, जो

चुनाव के समय साधारण दरिद्रजनों से भी बड़े तपाक से मिला था, उनके यहाँ दावतें खायी थीं, जैसे बिल्कुल उनका ही है। अब चुनाव में सफल होकर वह मिनिस्टर हो गया है तो एक साहबी ठाट से रहता है, और जब पूरनचन्द और उदयचन्द दो देहाती स्वयं-सेवक जिन्होंने उसे चुनाव में सहायता पहुँचायी थी उसके पास मिलने पहुँचते हैं तो मिनिस्टर साहब को मिलने में भी परेशानी है, उनकी मिठाई को हिकारत के साथ अपने चपरासी को देते हैं, उनका दुःख सुनने की फुरसत नहीं। वे दोनों भूखे हैं, पर ऐसे साहबी वैभव में उनके सत्कार का कौन ध्यान करेगा। ये मिनिस्टर महोदय देवराज कांग्रेस के ही मिनिस्टर हैं। नाटककार ने इस व्यंग एकांकी से ऐसे पदारूढ़ व्यक्तियों की आन्तरिक दुर्बलता का पर्दा फाश कर दिया है। यही बात 'आई-सी' नामक पांचवे एकांकी में है। 'सुदामा का तन्दुल' उस समय का चित्र है जब कांग्रेस का मन्त्रि-मण्डल कार्य कर रहा था। 'आई-सी' उस समय जब कि कांग्रेस के मंत्रि-मंडल पद त्याग चुके थे। ऐसे पद से अलग हुए एक मिनिस्टर भूपालसिंह का चित्र है। मुख्य वृत्त तो यह है कि वे कहीं जाना चाह रहे हैं। उनके बड़े भाई साहब उनको यात्रा के लिये सेकिंडक्लास का किराया नहीं जुटा सके इसलिये परेशान हैं। बंगले वाले, पैट्रोल वाले, फरनीचर वाले, अनाज वाले, घी वाले, तरकारी वाले, का न जाने ऊपर कितना उधार है। मिनिस्टर साहब कहते हैं "आई सी! एक बार मिनिस्टर और हो जाऊं तब इन सब बदजातों को......" बड़े भाई साहब से नाराज हो रहे हैं। भाई साहब कहते हैं 'थर्डक्लस' में चले जाओ तो कहते हैं "कल मैं मिनिस्टर था, फर्स्टक्लास में चढ़ा-चढ़ा फिरता था, कभी-कभी सैलून में भी, मेरे साथ गोरे सेक्रेटरी,......और आज ही मैं थर्ड क्लास में मारा-मारा भटकूं।" महीपालसिंह, उनके बड़े भाई ने ठीक ही सुझाया है कि "तभी तभी गांधीजी ने कहा था कि कांग्रेस मिनिस्टरों को थर्ड क्लास में यात्रा करनी चाहिए। एक दम सादगी से रहना चाहिये। यह पद लोलुप मिनिस्टर मिनिस्टरी के स्वप्न देख रहे हैं, या जेल जाने के। इसके साथ ही इनकी उस मनोवृत्ति की भी झांकी एकांकी कार ने करायी है जिसमें ये एक देहाती का दुःख सुनने को तो समय न होने के बहाने से तय्यार नहीं होते हैं,

उसे निराश टाल देते हैं और कुमार अपने मित्र से गपशप करने में उन्हें समय का अभाव नहीं खलता। कुमार भूपालसिंह से यह स्वीकार करा लेते हैं कि उनके मत से भी कांग्रेस ने मिनिस्ट्री छोड़ कर गलती की है। कुमार के इस आक्षेप का कि कांग्रेस खुद गर्जो का जमात है, मिनिस्टर महोदय कोई करारा उत्तर नहीं दे पाते। इन दोनों एकांकियों में चढ़ते हुए नशे और उतरे नशे के व्यंग चित्र हैं। जो तुलसीदास की प्रसिद्ध पंक्तियों की सत्यता सिद्ध करते हैं। "प्रभुता पाहि काहि मद नाहीं।" पर यहां यह बात केवल उन लोगों के संबंध में ही ठीक बैठेगी जो पद लोलुपता के कारण ही कांग्रेस में घुसे। कांग्रेस के अन्तरङ्ग से परिचित सेठ गोविन्ददासजी की लेखनी से निकले ये एकांकी कांग्रेस की आन्तरिक दुर्बलता पर उंगली रख देते हैं। और यह धक्का लगता है कि यदि यह दशा है तो ?

'यू नो' चौथा एकांकी है। यह एक झांकी है, जिसमें उद्धत-चरित्र का दिग्दर्शन कराया गया है। रामदीनजी उद्धत अभिमान से भरे मिनिस्टर विश्वेश्वरप्रसाद के यहाँ आए हैं वे जरा-जरा सी बात पर बिगड़ते हैं। जब से आये हैं तब से आसमान सिर पर उठा रखा है। क्यों ? क्योंकि वे समझते हैं कि वे एम० एल० ए० हैं और उन्हीं पर विश्वेश्वरप्रसादजी की मिनिस्ट्री निर्भर है। तभी चौधरी रामदीन के इस उद्दण्ड व्यवहार से खीझकर वह कहते हैं। 'अजी जनाब, ऐसी मिनिस्ट्री पर लानत भेजता हूँ। यह झांकी अच्छी बन पड़ी है। लघु किन्तु तीव्र प्रकाश में अहंकारी उद्धत स्वभाव का रूप स्पष्ट हो उठता है ?

'फांसी' में तीन पात्र हैं। एक कवि, एक पूंजीपति, एक मजदूर। कवि अपनी काव्य कल्पना में रूप के सौन्दर्य को आंकते आंकते किसी सुन्दरी पर बलात्कार कर बैठता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह तो मर जाती है, और कवि को 'फांसी' की आज्ञा मिलती है। वह दुखी है कि ऐसे संयोगात्मक कार्य के लिए उसे फांसी दी जा रही है। पूंजीपति पूंजी का महत्त्व बतलाता है। उसे दुख है कि पूंजीवृद्धि के शुभ कार्य में रोड़ा अटकाने वाले स्ट्राइकर मजदूरों में से एक-दो को उसने मार डाला तो उसे फांसी हो रही है, उन भिनगों की क्या बिसात। मजदूरों को मारना तो पुण्य था। मजदूर ने एक पूंजीपति

को मार डाला है।' यह प्रश्न है कि वह एक खून चूसने वाले का खून चूस चुका है। फाँसी न होती अच्छा था, पृथ्वी का भार और हलका करता। फाँसी हो रही है, फिर भी दुख नहीं जितना किया वही कम नहीं। और जब कवि और पूँजीपति सोचते होते हैं कि उनको छुड़ाने का बाहर जो महद्‌योग हो रहा है, वे अब छूटेंगे, तभी उन्हें जेलर लेने आ पहुँचता है।

'हंगर स्ट्राइक' एक नाम चाहने वाले कांग्रेसी सत्याग्रही का चित्र है। उसने जेल में अनशन कर दिया है। वह यतीन्द्रनाथ की भाँति प्राण देगा, मेक्सवाइनी की भांति प्राण त्याग करेगा। वह चाहता है उसके हंगर स्ट्राइक का समाचार, पत्रों में छपे. गांधीजी उसे अनशन तोड़ने का तार दें। उनकी भूख का यह हाल है कि इन्तजार कर रहे हैं कि फोर्स फीडिंग वाले अभी तक नहीं आये। उस भाग के कांग्रेस प्रेसीडेण्ट नरोत्तमप्रसाद नागर इस अनशन करने वाले महाशय परमेश्वरदयाल से मिलने आते हैं और उनसे कहते हैं कि वे हंगर स्ट्राइक तोड़ दें, क्योंकि वह बिना कारण है— नहीं तो वह उनके विरुद्ध डिसिप्लिनरी एक्शन लेंगे। तब तो बिचारे परेशान होते हैं, उनके मित्र राधारमण जो नरोत्तमप्रसादजी से कहते हैं कि आप इतना समाचार अखबारों में भिजवादें कि आपकी 'आज्ञा से परमेश्वरदयाल जी ने हंगर स्ट्राइक तोड़ दी है और"—परमेश्वरदयालजी कहते हैं कि यह भी लिखें कि हंगर स्ट्राइक तोड़ी गई है संतरे का रस पीकर वन्दे मातरम् के गान के बीच।" इस एकांकी में एक कैदी के कक्खों मारने की गिनती की आवाज का बड़े कौशल से उपयोग किया गया है। उससे उस बंदीखाने के जीवन की यथार्थ अवसादमय स्थिति बीच-बीच में झनझना कर गूंज उठती है। यह एकांकी भी व्यंग है।

अंतिम है 'विटेमिन'। विटेमिन वाले स्वास्थ्य सिद्धान्त का उपहास है। डाक्टर गोपालनन्दन की बातों में आकर. धनिक बच्छराजजी प्राकृतिक चिकित्सा और साइंटिफिक फूड आरम्भ करते हैं। दुर्बल हो रहे हैं। उनकी पत्नी कपिला आकर उन्हें ठीक करती है। कहती है, "मैं कहती हूँ साइन्स का फैड छोड़ने को।' वह अपना नाम बदल कर कपिला से कमला रखती है,

वच्छराज का नाम बदल कर पद्मराज करती है। वच्छराज पूछते हैं तो उत्तर है,,, इसलिए कि जिससे आगे चल कर गोपालनन्दन के सदृश कोई गो-नंदन हमें कच्चे मूंग, अंकुरित चने, चोकर, खली, दूर्वादल की सानी न······ न खिला सके।"

इस संग्रह मे 'निर्माण के आनन्द' के अतिरिक्त सभी एकांकियों में व्यंग और तटस्थता का स्मित हास व्याप्त है। यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन इनसे हो जाता है। समय की विविध अवस्थाओं की झांकी के साथ उनका दुर्बल पक्ष उभर कर सामने आ जाता है। उपक्रम तथा उपसंहार का उपयोग इनमें भी आदर्श नहीं हुआ। इनके एकांकियों की बड़ी विशेषताऐं सुथराई और सुलझा हुआ कथानक है। ये एकांकी किसी चरित्र का अन्तरङ्ग चित्रित करने के लिए नहीं प्रस्तुत हुए, स्थिति की विडंबना ही इनमें दिखाई गयी है।

यहाँ तक सेठ गोविन्ददासजी के एकांकियों की स्थूल रूपरेखा दी गयी है। इससे सब से प्रमुख बात तो यह प्रकट होती है कि नाटककार ने ये नाटक नाटकीय कला का उत्कर्ष करने के प्रमुख उद्देश्य से नहीं लिखे। उसके मन मे कुछ विषयों की व्याख्या उत्पन्न हुई है, अथवा उसे कोई विशेष-अनुभूति हुई है उसी व्याख्या को अभिव्यक्त करने का साधन उसने एकांकी को बनाया है जिन मुख्य विषयों की ओर उसने ध्यान आकर्षित किया है वे हैं हिंसा-अहिंसा, आत्मघात- बलिदान, प्रायश्चित की आवश्यकता, धर्म और सत्य की सूक्ष्म व्याख्या, न्यायका यथार्थ स्वरूप, राजा के विविध रूप, हिन्दू-मुस्लिम समस्या, अस्पृश्यता की समस्या, किसान-जमींदार की समस्या कॉग्रेस के मंत्रि-मंडल के समय की विविध मनोबाधायें। और भी जिनका समावेश है उनका उल्लेख ऊपर परिचय में हो चुका है। जहाँ पर नाटककार ने व्याख्या की है, एक का दूसरे से सूक्ष्म अन्तर प्रकट किया है वहाँ उसने पैनी दृष्टि से काम लिया है, और अधिकांशतः उन सब में गांधीवादी दृष्टि काम कर रही है।

जहाँ जीवन के तथ्यों और अनुभूतियों का प्रश्न है, नाटककार प्रायश्चित में विश्वास रखता है, सत्य को मानता है, पर सत्य की व्याख्या में

वह सत्य को सत्य-भाषण तक ही सीमित नहीं रखता, पुरुषोत्तम के शब्द उसी के शब्द हैं—"हमारे शास्त्रों में सत्य और असत्य की व्याख्या बड़ी बारीकी से की गयी है। अनेक बार सत्य के स्थान पर मिथ्या भाषण सत्य से भी बड़ी वस्तु होता है।" और धर्म क्या है यह भी समस्या है। धर्म की यह उदार और अनुदार शब्दों में व्याख्या तो नहीं करता, पर जैसे आचार के धर्म से उत्तरदायित्व और विश्वास का धर्म उसे विशेष प्रिय है। शरणागत की रक्षा, वचन का पालन करने के लिए उसके पात्र अपनी कुल-परम्परा को भी त्याग करने का साहस दिखाते हैं। जाति और वर्ण परम्परा पर वह व्यंग करता है। एक स्थान पर 'सीधिया' में धर्म से यथार्थ क्षत्रियत्व का होना भी वह मानता है।

मूलतः वह भारतीय समाज के विविध विधानों का विरोधी नहीं। वह उनमें ह्रास और असामयिकता पाता है और उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करता है।

संयम इस नाटककार का बड़ा गुण है। नाटकों की टेकनीक में संयम है। वह घोर कलावादियों की तरह एकाङ्कियों के अपने निजी सौन्दर्य की ओर उग्रता से अग्रसर नहीं है। उसने नाटक की टेकनीक को अपने संयम के घेरे में ले लिया है। समस्यायें उपस्थित करने में सयम है—क्रान्ति की बात कहते-कहते और सोचते-सोचते जैसे रुक जाता है। आवेश आता है पर दबकर, कहीं तो वह आहत होकर आता है। तर्कों में नवीन प्रणाली की ओर आकर्षण होते हुए भी वे प्राचीन दृष्टान्तों से भाराक्रान्त हो उठे हैं। शब्दों में इतना परिमार्जन और वाक्यों में ऐसी व्यवस्था भी संयम का परिणाम है।

नाटककार ने 'उपक्रम' और 'उपसंहार' की उद्भावना की है पर उनका उपयोग सब स्थलों पर ठीक नहीं कर सका।

सेठजी के मोनोड्रामा—

सेठजी ने एक और नयी शैली का उपयोग अपने एकांकियों में किया है, वह है 'मोनोड्रामा'। 'एक प्राचीन एकांकी'— संस्कृत में जिस प्रकार 'आकाश भाषित' होते थे, उस प्रकार के; केवल अन्तर यह है कि इन्होंने

इन नाटकों में 'आकाश भाषित' तो यथार्थतः एक ही लिखा है, अन्य में कहीं चश्मा, कहीं नोट बुक, कहीं कलम, कहीं लाइट-हाउस टावर, कहीं घण्टा, कहीं चिमनी, कहीं बादल, कहीं धरती, कहीं घोड़ा जैसे भयानक को साधन बनाया है। अतएव उसके मोनोड्रामा में हमे तीन प्रयोग मिलते हैं-एक तो ऐसे पदार्थ और पशुओं को लेकर जो बोलते नहीं—दूसरे 'आकाश-भाषित' आकाश की ओर मुख उठा कर किसी के प्रश्न को दुहराकर उसका उत्तर देने की चेष्टा। तीसरा एक प्रयोग है-'शाप और वर' में—बोलने वाला पात्र एक है—स्त्री। पर स्टेज पर उसका पुरुष भी है। वह उसी पुरुष को संबोधन करके अपने हृदय की बात कहती है। पुरुष में कायिक प्रतिक्रिया तो होती है- और उस पर वक्ता पात्र का हृदय भी रहता है, पर वह पुरुष कुछ बोलता नहीं—बोलने का कार्य केवल एक ही पात्र करता है, इसीलिये इसे भी मोनोड्रामा ही कहा जा सकता है।

'प्रलय और सृष्टि' में हमें एक अधेड़ पुरुष मिलता है। वह अपने कमरे में है, उस कमरे की खिड़कियों में से एक मन्दिर का ऊंचा शिखर, एक मिल की चिमनी, एक लाइट हाउस टावर दिखलाई पड़ते हैं।

पुरुष पहले अपने चश्मे से बातें करता है। दृष्टि जीवन की नींव है··· दार्शनिक सफेद कांच से देखता है, उसे सभी में सचाई दीखती है। दो रंग सब से आकर्षक हैं—हरा और लाल। धनी की आँखों पर हरा चश्मा—उसे सब ओर हरा ही हरा दीखता है। लाल चश्मे से पता चलता है कि 'अगणित का खून बहकर कुछ के खून की वृद्धि हो रही है" उसी खून ने चश्मे का रंग लाल किया है।

इस प्रकार इस एकांकी में दार्शनिक, पूंजीपति और क्रान्तिकारी की विवेचना की है। दार्शनिक के मत से-ईश्वर, कर्म और भाग्य भोग से वह सहमत नहीं होता। पूंजीपति का सुख कच्ची नींव पर है, तब क्रान्ति की उपयोगिता पर वह विश्वास कर उठता है।

वही युवक 'नोटबुक' से बात करता मिलता है—उसमें लिखे हुए कुछ वाक्यों की कल्पना के आधार पर वेद और वेदों के निचोड़ की आलोचन

करता है—सब मह्म है, वसुधा एक कुटुम्ब है, सब का हित करो, ये सिद्धान्त केवल स्वप्न रहे। राम राज्य की कल्पना भी है, और अहिंसा भी मान्य है, जहाँ युद्ध के लिए सेना की आवश्यकता न पड़ेगी, पर यह सब कल्पना है। सत्य है यह कि सब कुछ 'सैल' है, योग्य ही जीवित रह सकता है श्रमिक ही योग्यतम है। जिन्होंने अब तक श्रमजीवियों का रक्त पिया है उनका खून बहाना होगा—बच्चन का यह कहना 'जग बदलेगा, किन्तु न जीवन' गलत है। रोटी का सवाल मार्क्स ने हल किया, सैक्स का सिगमंड फ्रायड ने। "व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाश और बन्धन रहित सैक्स सुखों के भोगने की आजादी अनरिस्ट्रिक्टेड नग्न मिलते ही जग और जीवन दोनों बदल जायेंगे।"

वही पुरुष 'कलम' को सम्बोधन करता हुआ कहता है 'तू उन नब्बे के लिए लिख जो—

'......'कठिन हलों की नोकों से अविराम लिख रहे धरती पर' जिनमें मजदूर भी हैं, और जिन शेष दस ने-राजा-महाराजा, सेठ साहूकार, पूंजीपति, मालगुजार, जमींदार, ताल्लुकेदार, धर्म के ठेकेदार महन्त गुसाईं' ने इन नब्बे को चूसा है उनके खून की लाल रोशनाई से इन नब्बे की समस्या लिख।

तब वह लाइट-हाउस टावर को देखता है—वह उसके रूपक से यह प्रकट करना चाहता है कि ऊपर जो वस्तु नहीं दीखती वह प्रकाश मिलने पर गहराई में देखने से जानी जाती है और तब जहाँ वह ऊपर से नहीं दीखता अन्तर विद्यमान मिलता है। दया का सिद्धान्त भूल है। यह दस व्यक्ति नब्बे का खून चूस कर कुछ खून के कतरे छिटका देते हैं और उसे कहते हैं दया। दया से उद्धार पाने के लिए वर्तमान सामाजिक संस्थायें नष्ट करदी जानी चाहिए।

मंदिर के घण्टे की ध्वनि सुनकर वह यही कहता है कि ये मंदिर भी उन्हीं दस के लिए हैं जो नब्बे का खून चूसते हैं—शेष नब्बे या तो अस्पृश्य करके जाने ही नहीं दिये जाते; जो जाते हैं उन्हें झापटियों का झापट झेलना पड़ता है, अब यह नहीं होगा। ईश्वर का अन्ध-विश्वास यदि नाश नहीं होगा तो इन संस्थाओं को नब्बे का होना पड़ेगा। दस के खून के

बलिदान से यहाँ एक नये त्रिलोक के प्रतीक की रचना हो और वह त्रिलोक हो मजदूरों, किसानों और उनके बुद्धिशाली नेताओं का।

चिमनी ने भी वह यही कहता है कि 'श्रमजीवियों की सच्ची प्रतीक'! किन्तु इस वक्त पूंजी द्वारा खरीदी हुई, उनका प्रतिनिधित्व करनेवाली चिमनी तू ही इस पूंजीवाद को नष्ट करदे।

बादलों को देखता है—'जमीन पर किसान और मजदूर रहे हैं, आसमान में तुम उठो।

गरजो और उनके कानों के परदे फाड़ दो, जिन्होंने, मधुर शब्दों... 'आप महा-पुरुष' हैं, 'आप परोपकारी हैं' 'दानवीर हैं' इसके सिवा और कोई शब्द नहीं सुने।

चमको बिजली और ढा दो बड़ी बड़ी इमारतों और उद्यानों को।

ओले गिरो और तोड़ फोड़ दो इन पापालयों को। आंधी चलो और नष्ट करदो उस संस्कृति को जिसमें इसके लिए नव्वे का खून ठंडा हो रहा है।

हां प्रलय—नाश पर ही निर्माण अवलंबित है।

धरती को देखकर कहता है: धरती काँप उठो इस बार का प्रलय हो पूंजीवाद और उसकी सृष्टि का।

यहाँ लेखक चरमोत्कर्ष उपस्थित करता है पृथ्वी के भूकंप द्वारा-भूकंप हो उठता है और वह पुरुष जो मजदूरों का नेता है कहता है :—

"मेरा मकान गिरा। महन्त उससे दबा''''क्या मेरा बाद भी झुकंगा है? ''चिमनी'''श्रमजीवियों की सच्ची प्रतीक, जिसे पूँजीवाद ने खरीद लिया था, गिरी। यानी पूँजीवाद और श्रमजीवीवाद की प्रतीक गिरी।'''', मन्दिर खड़ा है। '''मैं, मजदूरों का नेता मैं'''मैं अपने मकान में कैद'''।"

अन्त में पृथ्वी के काँपने से वह अपने ही मकान में गिरता है।

'अलबेला' एकाङ्की भी एक पात्रीय है। एक अधेड़ उम्र का मनुष्य, घोड़े की विविध क्रियाओं को लक्ष्य करके, उनमें अपनी मनोभिलाषाओं की पुष्टि देखता है और उस घोड़े को, जिसका नाम 'अलबेला' है सम्बोधन करता हुआ अपने मनोभावों को प्रकट करता है। जिन से हमें विदित होता

है कि "इस घोड़े की पीठ पर बैठ जाने कितने" बड़े-बड़े मकानों में सेंध लगायी, रास्ता चलती गाड़िया लूटीं, मोटरें लूटीं—ऐसा उसने साँप के सदृश धन पर बैठे हुए कंजूसों, मक्खीचूसों को "साहूकारों-जमींदारों" ताल्लुकेदारों को लूटने को किया—इन कानूनी लुटेरों को लूटने को किया। लूट कर वह दान कर देता है। पर-स्त्री और बच्चों की रक्षा करता है, उन्हें नहीं सताता।"

यह 'अलबेला' किसका चित्र है? डाकू का या आतङ्कवादी—क्रान्तिकारी का?

'शाप और वर' को लेखक ने 'दो भागों में एक नाटक' बताया है। एकाङ्की इसलिए नहीं कि इसमें दो अङ्क हैं—अङ्क क्या भाग हैं, इसीलिए उन्हें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा गया है। यथार्थ में ये दोनों भाग अलग-अलग पात्रों से सम्बन्ध रखने वाले दो विपरीत अवस्थाओं को दिखाने वाले दृश्य हैं। नाटक का सन्देश दोनों विपरीत-भाव रखने वाले दृश्यों को एक में जोड़ कर समझने से ही सिद्ध होता है। अतः उन्हें एक नाम से गूँथ दिया गया है। पहले भाग में एक अमीर घराने की स्त्री है, मरणासन्न, उसे धन का सुख मिला है पर प्रेम नहीं मिल सका। वह मरते समय अपने पति के समक्ष अपने हृदय के समस्त उद्गार प्रकट करना चाहती है। वह आरोप करती है कि धन का महाडम्बर तो मिला, पर तुम्हारा प्रेम नहीं मिला, जिससे जीवन में तिक्तता आगई—तुम्हें धन से क्या न मिल सकता था। मेरा जैसा प्रेम न मिले, लालसा तो मिल सकती थी। मेरे ऊपर सारा लाड़ सास-ससुर का इसलिए था कि सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी मिले। मुझे पुत्र जनने की मशीन समझा गया। बच्चे होने की सम्भावना से मेरा आदर बढ़ा और जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि बच्चा या तो सिर तोड़ कर निकल सकता है या मा का पेट चीर कर, तब मेरा पेट चीरा गया—अब मैं मरती हूँ शाप देकर कि "तुम्हारा वंश निर्वंश हो जाय। कोई जीव इस जड़ में गड़ने के लिए उत्पन्न न हो" और यह सारा वैभव भस्म हो जाय।

उत्तरार्द्ध एक गरीब के सूतिकागृह का दृश्य उपस्थित करता है। स्त्री

मर रही है; वह पुरुष की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है, उसके प्रेम में विह्वल है। सास-ससुर के लिए, घर के परमाणु परमाणु के लिए उसके हृदय में एक मोह है—सारा नाटक मधुरिमा के भावों से परिपूर्ण है और वह जाती है यह वर माँग कर कि तुम घर सूना न रखोगे, फिर विवाह करोगे।

इन दोनों में स्त्री ही बोलती है, पुरुष तो उसकी बातों के प्रभाव में प्रतिक्रियायें करता है, केवल शारीरिक। मुख से शब्द एक नहीं निकलता। अतः इन्हें मोनोड्रामा ही कहना होगा। उपरोक्त एकांकियों में इसमें विशेष स्वाभाविकता इसीलिए मानी जानी चाहिए कि जिसको अपनी बात सुनाई समझाई जा रही है वह पुरुष सुन समझ सकता है। ऊपर के अन्य एकांकियों में समस्त वातावरण एक अस्वाभाविकता धारण कर लेता है, क्योंकि कलम-चश्मे आदि को संबोधन करके इस प्रकार जोर जोर से अपने मनोद्गारों को पागल ही प्रकट कर सकता है। Soliloquy (स्वगत) को जिस आधार पर नाटकों में अवाञ्छनीय बताया जाता है, उन्हीं आधारों पर 'शाप और वर' को छोड़ कर शेष ये मोनोड्रामा उससे भी अधिक अस्वाभाविक ठहरेंगे।

'सच्चा जीवन' संस्कृत के ढंग का 'आकाश-भाषित' एकांकी है। आकाश की ओर मुँह करके किसी प्रश्न को दुहराया जाता है, जैसे कोई ऊपर पूछ रहा हो। फिर उसका उत्तर दिया जाता है। युवक सच्चे जीवन की अनुभूति पाना चाहता है।

सच्चा जीवन है सहन करना—पहाड़ों की तरह निर्जीव होकर? नहीं, यह नहीं सच्चा जीवन।

जीवन-वैतरणी तरना सच्चा जीवन—इसे कृमि कीट तक करते हैं। नहीं, यह नहीं।

अर्थ जीवन है—भोग से सन्तोष नहीं। नहीं, यह सच्चा जीवन नहीं।

अधिकार प्राप्ति है—इसके लिए षडयंत्र और पाप करने होते हैं। नहीं, यह भी नहीं।

पुरुष के लिए स्त्री, स्त्री के लिए पुरुष की प्राप्ति—पर इसके लिए कलह और हत्यायें होती हैं—यह भी सच्चा जीवन नहीं। तब सच्चा जीवन?

ठीक रास्ते पर चलना, बिना विघ्न-बाधाओं की परवाह किये चलना, अथक चलना, निष्काम चलना।

सूर्य इसी तरह चलता है, सबकी सेवा करता है, बिना बदला चाहे। इस निष्कर्ष से युवक प्रसन्न होता है।

विषय की विवेचना और उसे स्पष्ट करने के लिए ही इन एकांकियों का सृजन हुआ है। अन्य एकांकियों की अपेक्षा इनमें पूर्व-पक्ष को देखने में नाटककार ने काफी उदारता दिखाई है और चेष्टा की है कि वह प्रश्न यथा संभव सब ओर से पूर्णतः रख दिया जा सके, तब जैसे प्रलय और सृष्टि में लाक्षणिक ढंग से पूर्व-पक्ष की दुर्बलता की ओर संकेत करके नाटक समाप्त कर दिया गया है। एक पात्रीय नाटकों में मर्मस्पर्शिता की विशेष आवश्यकता है। वह चाहे तो काव्य के संचारियों की सहायता से हो अथवा विदग्ध वाणी (wit) से। यह नाटककार वाक् वैदग्ध्य का उतना उपयोग नहीं कर पाता। हृदय के राग को छूने की चेष्टा करता है—इसके लिए जहाँ तहाँ कवियों की उक्तियों का रङ्ग भरता है—पर वह कवि भी नहीं है। साथ ही नाटककार एक उद्देश्य को लेकर लिख रहा है। वह रस के पूर्ण परिपाक के लिए नहीं ठहरता। अपनी बात कहने के लिए आगे बढ़ जाता है। इन सभी एक पात्रीय एकाङ्कियों में 'प्रलय और सृष्टि' को छोड़ कर शेष आन्तरिक क्षोभ और आन्तरिक उद्वेलन तो प्रकट करते हैं पर वस्तु को गति नहीं देते। 'प्रलय और सृष्टि' में गति है और चरमावस्था भी बन पड़ी है। 'अलबेला' इनमें सबसे असहृदय एकांकी है—Abrupt (अपरंपरित)—भाव में भी, शैली में भी। नाटककार ने साम्यवाद और क्रान्ति के पक्ष को प्रबलतापूर्वक रख कर केवल उससे दीपक का काम लिया है, जिससे अपने पुराने घर का कोना-कोना दीख जाय, फिर एक फूँक में उसे बुझा देने की चेष्टा की है। ऐसे मोनोड्रामा हिन्दी में केवल सेठजी ने ही लिखे हैं। नया प्रयास है—अभी विकास की अपेक्षा रखता है। एक विद्वान को 'शाप और वर' में मनो-

विश्लेषण एवं वैषम्य का सुन्दर प्रयोग किया हुआ मिलता है। मनोविश्लेषण साइकाएनेलसिस को कहते हैं। उसका प्रयोग इन मोनोड्रामाओं में कहीं नहीं मिलेगा। सम्भवतः स्पष्ट प्रतिहिंसा के भावों से हुए सङ्कल्पों के उल्लेख को मनोविश्लेषण का प्रयोग माना गया है अथवा प्रेम की निराशा में प्रतिकूल, और नाश चाहने वाली मनोवृत्ति और प्रेम के सफल उन्मेष से अनुकूल और विकास चाहनेवाली मनोवृत्ति के चित्रों को मनोविश्लेषण माना गया है। जहाँ तक चेतन मस्तिष्क के सङ्कल्पों को लिखा जायगा वहां तक मनोविश्लेषण की आवश्यकता नहीं साधारण स्थूल मनोविज्ञान ही काम दे जायगा। 'शाप और वर' के किसी भी कथन और कार्य को समझने के लिए उपचेतन अथवा अवचेतन तक जाने की आवश्यकता नहीं। नाटककार धन के बाहुल्य का दुष्परिणाम दिखाना चाहता है—वह भी एक दम्पति के सम्बन्ध में। दोनों ही चित्र अतिरञ्जना के साथ हैं। वाञ्छनीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए, मनोविश्लेषण नग्न यथार्थ से सम्बन्ध रखता है! एक सीधा सा सिद्धान्त है—जब साधारण व्यापार परम्परा से किसी मानवी व्यापार या विचार का समाधान न हो सके तो मनोविश्लेषण की शरण ली जाती है—ऐसा इन एकांकियों में नहीं है।

सेठजी ने बहुत से नाटक लिखे हैं और उनमें से कुछ तो ऐसे लगते हैं जैसे विचार आते ही लिख डाले गये हों। जैसे लिखने के प्रयोग भर हों।

श्री० उदयशंकर भट्ट—हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों में एक उदयशंकर भट्ट भी हैं। १९४० में आपका एकांकियों का प्रथम संग्रह 'अभिनव एकाङ्की नाटक' प्रकाशित हुआ था। उसमें 'दो शब्द' में आपने बताया था कि 'एकांकी' नाटक लिखना मैंने पिछले दो साल से प्रारम्भ किया है। संभवतः इनके उस समय तक के प्रकाशित सभी एकांकी इस संग्रह में समाविष्ट हैं—इसमें छः एकांकी हैं : १ दुर्गा,—यह दो दृश्यों में समाप्त होता है। इसका आधार ऐतिहासिक है, विषय सामाजिक और नैतिक है। सामंत युग की विकृतियों को शौर्य और वेदना की तूलिका से नाटककार ने इसमें चित्रित किया है। दुर्गा के पिता को अफीम का व्यसन है, वह सब कुछ खोकर

अरावली की पहाड़ियों में छिपा हुआ है, दुर्जनसिंह उसकी टोह में है, चाहता है दुर्गा के पिता विजयसिंह से अपने पिता के तिरस्कार का प्रतिशोध। विजयसिंह ने दुर्जन के पिता को अकुलीन बताकर अपनी कन्या का विवाह करना अस्वीकार कर दिया था, वह दुर्गा को अपनी बांदी बनाना चाहता है। भीखा भाल अफीम लेने जाता है और दुर्जन के चँगुल में फँस जाता है। वृद्ध अफीम के लिए तड़प रहा है, अफीम दुर्जन से ही मिल सकती है। दुर्गा के सामने जटिल संघर्ष है, अपना धर्म या पिता की प्राण-रक्षा। वह पिता की प्राण-रक्षा के लिए अपना समर्पण कर देती है। दुर्जन उससे व्यंग करता है, तभी विजयसिंह आ उपस्थित होता है—अफीम लौटाकर दुर्जन से वह दुर्गा को मुक्त कर देने की प्रार्थना करता है। वृद्ध की ऐसी दयनीय दशा देख कर दुर्जन प्रभावित हो उठता है। वह विजयसिंह को उठाता है, उन्हें बड़ा भाई स्वीकार करता है। विजयसिंह दुर्गा का हाथ दुर्जन के हाथ में दे देता है। इस एकांकी में नाटककार ने दो संघर्ष दिये हैं—एक संघर्ष है आन्तरिक धर्म और कर्तव्य संबंधी, वह दुर्गा के मन में उठता है, वह निजी संघर्ष ही नहीं है, उसमें वृद्ध को भी भाग लेना पड़ता है। यथार्थ और आदर्श का उत्कट विभेद प्रस्तुत हो जाता है। जिसमें वृद्ध तो बहुत क्षुद्र हो पड़ता है, दुर्गा धर्म से च्युत भी हो, पिता की प्राण-रक्षा के संकल्प से महान् हो जाता है। दुर्गा के संकल्प पर वह संघर्ष समाप्त हो जाता है। दूसरा संघर्ष दो कुटुम्बों का—विजयसिंह और दुर्जनसिंह का है। नाटककार ने इसी संघर्ष को एकांकी का प्रधान-संघर्ष माना है और इसी संघर्ष का सूत्र जब एक पक्ष में चरम पर पहुँचता है और दूसरा पक्ष समर्पण दिखाता है तभी नाटक समाप्त होता है। विषय की दृष्टि से दूसरे पक्ष यानी विजयसिंह का समर्पण दुर्गा की मुक्ति के लिए है, जिसमें अन्तिम (स्ट्रोक) कौशल का उपयोग कर नाटककार अफीमची विजयसिंह को भी क्षुद्रता के गह्वर से ऊँचा उठा देता है, और दुर्जन के अन्तर की आमलिन महानता को भी उभार देता है। नाटक की सारी विषमताएँ काफूर हो जाती हैं—ट्रेजेडी बाल बाल बच जाती है। यह कहा जा सकता है कि ट्रेजेडी को बचाने के

बढ़ने लगा। संविधान में ऐसी दुर्बलता सदा ही क्षम्य नहीं मानी जा सकती। पर नाटककार ने इस एकांकी को भी प्रहसन के मूड में लिखना चाहा है।

'एक ही कब्र में' एकांकी का विषय गम्भीर है, और वह यथार्थ में ट्रेजेडी है, विषय में सुखान्त। संविधान में ट्रेजेडी इसलिए कि जिन पात्रों के प्रति हमारी संवेदना जागृत होती है, वे काल-कवलित हो जाते हैं, भले ही प्रकृति के आक्रोश भूकम्प से ही सही। पर विषय है हिन्दू मुसलमानों के पृथक्करण के भ्रम का नाश—वह प्राप्त हो जाता है, और विरोधी को भी "अपनी भूल विदित होती है—जब वह मरते समय खुदा से माफी मांगता है ऐ खुदा मेरे अपराध क्षमा कर। मैंने बगल में सोते हुए भाई की जात को घृणा की दृष्टि से देखा।" यह एकांकी पात्र-संघर्ष के साथ सिद्धान्त-संघर्ष पर खड़ा हुआ है। पात्रों में तो नसीर और ज्ञानचन्द्र में संघर्ष है, पर यह संघर्ष उभर नहीं पाता क्योंकि ज्ञानचन्द्र नसीर को शत्रु मानने को प्रस्तुत नहीं, अतः एक ही हाथ ताली बजाने को फड़फड़ाता दीखता है। सिद्धान्त-संघर्ष में है मुसलिम। लीग का सिद्धान्त, मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग मानना। ज्ञानचन्द्र का सिद्धान्त है, नहीं हिन्दू मुसलमानों में कोई भेद नहीं। वे गरीब मुसलमानों को सुविधा दिलाने का उद्योग करते हैं, स्वयं अपने पैसे खर्च करते हैं, और अन्त में भूकम्प के समय अपने शत्रु नसीर की प्राण-रक्षा करने के उद्योग में अपने प्राण देते हैं।

एकांकी घटना प्रधान है, सामयिक समस्या और गान्धीवादी विचारधारा से प्रभावित है। प्रतिपक्षी नसीर का चित्र कुछ असहृदयता से उपस्थित किया गया है, क्योंकि उसे मूलतः स्वार्थी दिखाया गया है। अपने सिद्धान्त पर विश्वास करने वाला नहीं। क्या हिन्दू-मुसलिम पृथक्करण में विश्वास रखने वाले मुसलमान अपने मन में अपने सिद्धान्त पर अविश्वास करते हैं, और केवल स्वार्थ के लिए ही इस ओर प्रवृत्त हैं? ऐसे विषय के लिए महान चरित्र के साथ महान एकांकी की रचना भट्ट जी कर सकते थे।

सेठ लाभचंद दो दृश्यों का एकांकी है और इसमें कंजूस सूदखोर सेठ की दुर्दशा का चित्र है। संविधान के लिए वह घटना ली गई है, जिसका ताँता

एकबार देश के समस्त बड़े-बड़े शहरों में फैल गया था। दिन दहाड़े धोखे से डकैती। सेठ लाभचन्दजी यों तो किसी पर दया करके एक पाई भी नहीं दे पाते, पर ठगों के चक्र में पड़ जाते हैं। ये ठग पहले तो नागोजा की रानी साहिबा के गुमाश्ता बन कर आते हैं और एक आभूषण रख कर सात हजार रुपये नकद ले जाते हैं। फिर पुलिस का रूप धारण कर आते हैं। सेठ से वह आभूषण भी लेकर चम्पत हो जाते हैं। कहाँ तो सेठ न अफगानी को ही रुपये देना चाहता था, न विचारे दुखी महादीन को ही तो पाई तक दी उसके संकट को जानते हुए भी, कहाँ यों सात हजार खो बैठा।

इनका दूसरा एकांकियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है 'स्त्री का हृदय'। नाटककार ने बताया है कि इस संग्रह के एकांकियों में 'जवानी' नाट्य-रूपक को छोड़ कर शेष सब यथार्थवादी नाटक हैं। पहला नाटक 'स्त्री का हृदय' है। जगदीशराय ने अपनी पत्नी अञ्जना को बहुत मारा है। अञ्जना के भाई कपूर ने उन्हें दो साल की सजा करादी है। अञ्जना की टाँग टूट गई है। तीन महीने बाद उसे अस्पताल से छुट्टी मिली है। अब न तो यशवन्त जगदीशराय को अपना पिता मानना चाहता है, अञ्जना भी भुला देना चाहती है। शोभा लड़की को छोड़ कर सभी जगदीशराय के विरुद्ध हैं—शोभा की यह आपत्ति किसी को पसन्द नहीं आती कि—"जब बाबूजी कमाते थे तब सबको अच्छे लगते थे। यदि आपकी रक्षा के लिए उनकी नौकरी छूट गयी उन्हें व्यसन लग गया, तो वे ऐसे कड़ुए हो गये···।" यहाँ पहले दृश्य तक तो नाटककार परिस्थितियों का परिचय दे पाया है। दूसरा दृश्य गुरु नारायण जेलर के यहाँ है—गुरुनारायण अपनी लड़की का सम्बन्ध यशवन्त से करना चाहते हैं, आज उनके यहाँ यशवन्त और अञ्जना निमन्त्रित आये हैं। इधर-उधर की बातें होती हैं। जेलर की स्त्री का वार्तन एकाङ्कीकार ने अच्छा दिया है। गुरुनारायण यशवन्त को जेलर बनाना चाहते हैं, यशवन्त भी उत्सुक है। यहीं कैदी बन जगदीशनारायण आ जाते हैं। जगदीशनारायण यशवन्त से मिलने झपटता है, नौकर समझता है कैदी मारने दौड़ा है—इस पर गुरुनारायण उसे बुरी तरह मारते हैं। भीतर से अञ्जना आती है तो

दौड़ पड़ती है बचाने। यशवन्त कहता है वह हमारे कोई नहीं, पर अंजना अपने को नहीं रोक सकती—वह दुखी होकर पति के चरणों में मूर्छित गिर पड़ती है। यही सम्भवतः स्त्री का हृदय है। एकांकीकार की टेकनीक में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वही दो दृश्य, वही अन्त में रहस्योद्घाटन और झनझना कर एकांकी का समाप्त हो जाना। हाँ सन्विधान की कल्पना में यहाँ पूर्व जैसी विशिष्ट दुर्बलता नहीं प्रतीत होती। फिर भी नाटककार ने जो मान्यताएँ स्वीकार की हैं वे निश्चित आपत्तिजनक अब भी हैं। यह तो किसी सीमा तक, माना जा सकता है यथार्थतः नहीं, कि आधुनिक समाज के पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों में सम्बन्ध का आधार आर्थिक है। पति कमा नहीं सकता तो स्त्री विरुद्ध हो उठेगी, पुत्र विद्रोही हो उठेगा, साला उसे सजा दिलाकर प्रसन्न होगा। पर यह मानना कठिन होगा कि जिस व्यक्ति ने न्याय के लिए नौकरी छोड़ी, वह व्यसन में फँस जायगा, और इतना पतित हो जायगा, फिर जिस अंजना में वह स्त्री-हृदय है जिसकी अभिव्यक्ति सबसे अन्त में हुई वह उसे जेल भेजने में सहायक हो सकेगी? अर्थ की और नैतिक आचरण की समस्या को बहुत स्थूल रूप में एकांकीकार ने ग्रहण किया है। कोई मनोविश्लेषणात्मक कारण ही पुरुष से अपनी पत्नी पर वह भीषण प्रहार करा सकता है जो जगदीशराय ने किया—जबकि पति-पत्नी दोनों पढ़े-लिखे सुशिक्षित थे। उसकी ओर कहीं कोई संकेत भी नहीं। यहाँ यह भी प्रश्न है कि क्या दण्ड दिला कर अंजना के प्रति किये गये अपराध का समाहार हो गया। अंजना के पति को दण्ड दिलाने की व्यवस्था पर नाटक को निर्भर करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। नाटककार ने अन्त की कल्पना पहले की और शेष पूर्व भाग को बाद में—और वह कल्पना भी उसने अन्त से उसकी सन्धि बिठाने की दृष्टि से की है।

इन मौलिक दुर्बलताओं के होते हुए भी जिस हृदय का स्पन्दन इस एकांकी में है वह हेय नहीं। वह जैसे समस्त बुद्धि-व्यादान की असमर्थता एक पल में सिद्ध कर देता है।

'नकली और असली' में मर्म को स्पर्श करने वाली (कामेडी) प्रहसनाश्रित ट्रेजेडी है। चिन्तन नाम का नाटककार है, उसकी स्त्री भूखों मर रही है। बच्चे तड़प रहे हैं। धनाभाव के कारण वह उन्हें नहीं बुला सकता। उसने जो नाटक लिखा है उसका नायक उसे ही बनना पड़ता है। नाटक में वह नायक बना हुआ नायिका से प्रेमालाप कर रहा है कि उसकी स्त्री प्रवेश करती है। उसे भ्रम होता है कि उसका पति सचमुच दूसरी स्त्री से प्रेम कर रहा है। नाटक का मैनेजर जब उसे रोकता है तो वह कह उठती है—"यह कौनसा नाटक है? एक तरफ तो उसके बच्चों और मुझे शरीर ढकने को कपड़ा तक न मिलें और इसका आप रेशमी कपड़े पहन कर परायी औरतों के साथ यौवन के गीत गाये।"

इस असली नाटक के सामने नकली नाटक बन्द हो जाता है। इस एकाङ्की में दो दृश्य हैं, पर वे अलग-अलग दृश्य आप देकर नाटककार ने प्रस्तुत नहीं किये। केवल पर्दा गिरने का रङ्ग-संकेत कर दिया है।

चिन्तन का आन्तरिक सङ्घर्ष, कलाकार की दुरवस्था और उसके गृह की दरिद्रता का सजीव और करुण चित्र हास्य की भूमिका पर छायाचित्र की भाँति प्रतिबिम्बित हो उठता है।

'दसहजार' में सीमा प्रान्त के उस लोभी सेठ का चित्रांकन है जिसके लड़के सुन्दर को काबुली उठा ले गये हैं। वे दस हजार माँगते हैं तब लड़के को छोड़ेंगे। सेठ लड़के को छुड़ाने के लिए भी दस हजार देने को प्रस्तुत नहीं। जिन्हें दस हजार रुपये अपने पुत्र से अधिक प्रिय हैं. जिन्हें पुत्र के छूट आने की उसकी प्रसन्नता नहीं होती, जितना दुःख दस हजार चले जाने का होता है, वे बेहोश ही हो जाते हैं। शेक्सपीयर के यहूदी शाइलाक से भी अधिक कंजूस।

'बड़े आदमी की मृत्यु'—यह क्लाइमैक्स रहित एकाङ्की है। एक बड़ा आदमी मर गया है—उस पर यथार्थ में शोक करने वाला, उसकी आत्मा की कल्याण कामना करने वाला एक नहीं। चाचा, पुत्र, पत्नी तक को बीमार और मृत्युग्रस्त की, मृत्यु और दुःख तथा आत्मा की किंचित भी चिन्ता नहीं—

चिन्ता है शेयरों की, इङ्गलैण्ड जाने की योजना की — मर जाने पर चिन्ता है बाहर के लोगों को दिखाने की कि सब काम बड़े आदर्श के योग्य ही हुआ है। बड़े-बड़े महानुभाव शोक प्रकट करने आते हैं। सब एक शिष्टाचार में बँधे, यथार्थतः जान-पहचान न होते हुए भी जान-पहचान का दम भरते हुए। यहाँ भी एकांकीकार ने शालकर्य परिस्थितियों की भूमिका पर एक प्रहसन खड़ा कर दिया है। और अस्वाभाविकता नहीं आने दी। विविध वर्ग के व्यक्तियों की अपनी निजी विशेषताएँ इस ढंग से एकांकी के एक-एक संकेत में ही उभार कर रखदी है। साथ ही घनश्याम को लाकर एकांकीकार ने समस्त नाटक में एक गम्भीर व्यंग का भी गम्भीर स्वर तुनतुना दिया है। ऊपर के बड़प्पन मे भीतर की क्षुद्रता की झाँकी करा दी है। बिहारीलाल के इन शब्दों का स्वाद कैसा है—"भैया का काम, यहाँ का काम जरूरी है या लड़की के मरने का?"

विष की पुड़िया—इसका दूसरा नाम भी दिया गया है "माँ का दिल" रामो सुखिया की सौतेली माँ है। रामो सुखिया को मार डालना चाहती है। रामो के लड़के को अपनी सौतेली बहिन बड़ी प्रिय लगती है। बहिन सुखिया भी अपने भाई सुल्लू पर प्यार करती है। रामो अपने भाई देवकी की सलाह से सुखिया को दूध में जहर दे देती है। सुल्लू पिताजी को सुखिया के मरने का भेद बता देता है। सौतेली माँ का डाह तो दिखाया ही गया है, बहिन-भाई के प्रेम का बड़ा निर्मल चित्र प्रस्तुत होता है—माँ के मनोविकार का प्रभाव उन बच्चों पर नहीं पड़ता। बहिन तो बीमार भाई के लिये मरते-मरते भी बिल्ली का बच्चा लेकर आई है। बिल्ली का बच्चा इस एकांकी के अवसाद को सहज स्नेह की रेखा रोचक के द्वारा और भी गहरा कर डालता है। एकांकी अवसादात्मक है।

जवानी नाट्य-रूपक है। इसका अर्थ है कि इसके विविध पात्र विविध अपदार्थ जगत् के तत्वों के रूपक हैं। आगंतुक विचारक का रूपक है, स्त्री-स्मृति का रूपक है, युवती जवानी का। जवानी के बाद विचारक का आदर होता है, होना चाहिये, तभी कल्याण है। रूपक होते हुये भी रोचक है और

नाटकीयता से युक्त है। नाटककार ने कैदी के सहारे बिचारक, स्मृति और जवानों के, जीवन में महत्व और कर्तव्य पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार का नाट्य-रूपक आधुनिक काल में एकांकियों मे नहीं लिखा गया, नाटकों में भगवतीप्रसाद वाजपेयीजी का छलना ही रूपक कहा जा सकता है।

मुंशी मनोखेलाल बहुत हलका प्रहसन है। उनकी वकालत नहीं चली, वे एक वकील के मुहर्रिर हुए और अब अर्जी-दावा लिखते हैं। उसमें भी सफल नहीं, बिलकुल बुद्धू हैं। उनके मुवक्किल उनकी बहकी बहकी बातें सुन कर उन्हें छोड़ जाते हैं। एक पत्र उनकी ससुराल से आया है, पर वह किसी नटखट का भेजा हुआ है, उसमें लिखा है कि मुंशीजी की पत्नी विधवा हो गयी। वे रोने लगते हैं और अन्त में एक वृद्ध सब स्थिति समझाकर जैसे-तैसे उन मुंशीजी को यह विश्वास दिलाते है कि जब तक तुम जिन्दा हो तुम्हारी स्त्री विधवा नहीं हो सकती। इस प्रहसन के दो स्पष्ट भाग हैं, पूर्व मुवक्किलों से संबंधित, दूसरा स्त्री के विधवा संबंधी वृत्त वाला। दोनों अलग-अलग से हैं, एकांकी-कार ने उन्हे एक मे मिला तो दिया है। पर उनमें एक तारतम्य नहीं आ पाया।

भट्टजी की कला के सम्बन्ध में उपरोक्त विवेचन के बाद कुछ इसके संबंध मे दूसरे विद्वानो के मत भी जान लेना उचित होगा। 'प्रो० अमरनारायण ने बताया है कि इनके नाटक हिन्दी साहित्य मे एक नवीन शैली के परिचायक हैं जिसका अभाव हमारे यहाँ अवश्य था। दुःख पूर्ण नाटक Tragedy लिखने को प्रथा आपने ही चलाई। 'प्रसादजी' के नाटकों में दु.खवाद खूब देखने को मिलता है, पर इनका तो दृष्टिकोण ही Tragic है।······· 'दस हजार' में 'मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ भट्टजी आन्तरिक द्वन्द्व को सफलता-पूर्वक विकसित करने में सफल हुए हैं।'

श्री० प्रो० रामकुमार वर्मा का कथन है—"भट्टजी की लेखनी में मनोभाव सरलता से स्पष्ट होते जाते हैं। पात्रों के अनुरूप भाषा की सृष्टि में तो वे सिद्धहस्त हैं। घटनाओ मे कौतूहल चाहे न हो किन्तु स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने में भट्टजी ने विशेष सफलता प्राप्त की

है। उनकी दृष्टि व्यक्तिवाद तक ही सीमित नहीं है वरन् वे मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज के भयानक हिंसात्मक स्वरूप को अपनी शक्तिशालिनी लेखनी से कोमल बना कर धुले हुए कपास का निर्मल और भव्य स्वरूप दे देते हैं।"

प्रो० नगेन्द्र का मत है—भट्ट जी युगधर्म से प्रेरित होकर अब कुछ दिनों से अपने आसपास के जीवन की ओर आकृष्ट हुए हैं"....उनके एकांकी भी प्रायः इसी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं।.... ... नाटकों में समस्या की विभिन्नता होते हुए भी एक बात समान है—मन को छूने की विधि ! हमारे आज के परिवर्तन कालीन समाज की ऊपरी सतह में जो ढंग है, वह भले ही हमें कुछ हास्यास्पद लगे, लेकिन विश्लेषण करते समय हमें अनुभव होगा कि उस ढंग के नीचे एक व्यथा छिपी हुई है।.... ऊपर एक हँसी, या व्यंग्य लेकिन नीचे एक हलकी निराशा—यही इन नाटकों की व्याख्या है।

भट्ट जी के एकांकी टेक्नीक की दृष्टि से उनके बड़े नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं। उनकी इन छोटी रचनाओं में कथा-संकोच एवं एकाग्रता के आग्रह से कल्पना का विलास कम और नाटकीय संवेदना का स्पन्दन अधिक स्पष्ट हो गया है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी—इन्होंने भी कई एकांकी नाटक लिखे हैं। इनका एक संग्रह 'सोहाग बिन्दी और अन्य नाटक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसमें 'सोहाग बिन्दी,' 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपरपार्श्व' 'शर्मीना', 'दूसरा उपाय ही क्या है।' 'सर्वस्व समर्पण' एकांकी हैं। एक 'कामरेड' नाम का एकांकी भी है।

'सोहाग बिन्दी' और 'कामरेड' इनके सुन्दर एकांकी हैं।

'सोहाग बिन्दी' में रेलवे के एक स्टेशन मास्टर और उनकी पत्नी की कहानी है। काली बाबू एक छोटे स्टेशन के स्टेशन मास्टर हैं यहाँ का सारा काम इन्हें ही सँभालना पड़ता है। वे रात-दिन स्टेशन के कार्य में व्यस्त रहते हैं, और उनकी पत्नी क्वार्टर में घुटती रहती है। उनके इस रूखे निरुद्वेग जीवन में काली बाबू के मौसेरे भाई विनोद आकर हिलोर उठा जाते

है। उनको अपनी भाभी के प्रति गहरी सहानुभूति हो जाती है, और भाभी भी जैसे विनोद से प्रभावित हो जाती हैं—वह प्रतिभा के मर्म को समझ पाता है—विनोद चला जाता है, और प्रतिभा में उसके लिए प्रतीक्षा की हूक भर जाता है। वह तो लौटता नहीं—एक दिन सोहाग बिन्दी भिजवा देता है। प्रतिभा बीमार हो जाती है—पर सब ओर से अपना दमन करती है, कभी अपनी बीमारी का पता नहीं देती। काली बाबू उसे उसके मायके वायु-परिवर्तन के लिए भेज देते हैं वहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है। काली बाबू बड़े दुखी हैं। वे उसकी अस्थियां लाये हैं और उस ट्रंक में रखना चाहते हैं जिसमें उसके और सामान हैं—वह उसे देवी और पतिव्रता समझ कर उसकी याद में नौ नौ आँसू रो रहे हैं। तभी बक्स में से एक अधलिखा पत्र निकलता है—"मोरे न जाने कौन विनोद बाबू! तुम आने को कह कर फिर क्यों नहीं आये, मैं हर घड़ी तुम्हारी राह देखा करती हूँ।........फिर किससे पूछूं तुम्हारा पता। कैसे पूछूं?"......यह पढ़ कर काली बाबू सन्न रह जाते हैं। उनके हाथ का अस्थिखण्ड गिर पड़ता है।... ...थोड़ी देर बाद एक बिल्ली उधर से आती है और उस अस्थिखण्ड को लेकर खेलने-सी लगती है।

यद्यपि नाटककार के कथनोपकथनों में चुस्ती नहीं, कथा जहाँ से आरम्भ होकर जहाँ समाप्त होती है, एक दीर्घ समय को अपने अन्दर समेट लेती है। फल इसका यह हुआ है कई दृश्य स्वयं अङ्क से प्रतीत होने लगते हैं। पहला और दूसरा दृश्य एक अङ्क के भाग माने जा सकते हैं, तीसरा दृश्य स्वयं 'एक अङ्क'—या प्राचीन परिपाटी का 'निष्क्रमक' है। चौथा दृश्य 'एक साल बाद' आरम्भ होता है—पाँचवा दृश्य चौथे से कई दिन बाद का—इसी प्रकार पाँचवे और छठे, तथा छठे और सातवें में भी कितने ही दिवसों का व्यवधान होना चाहिए। नाटकीय व्यापार में कोई विशेष गति नहीं, नाटककार सहजता के वातावरण को उपस्थित करता हुआ जैसे उद्योग पूर्वक चरमोत्कर्ष की ओर ले जा रहा है। अन्तिम दृश्य को प्रभावशीलता, विशदता और महानता के योग्य शेष भाग नहीं बन पड़ा। पर एक संघर्ष और

रहस्य साथ-साथ बनते चले जाते हैं। प्रतिभा में संघर्ष और उसके चारों ओर के विक्षुब्ध भवन वातावरण में रहस्य गहन होता जाता है। नाटक को वैवाहिक समस्या से सम्बन्धित करके सामाजिक बनाया जा सकता है। इस अवस्था में इनमें भी वे ही समस्याएँ प्रधान हो उठती हैं जो भुवनेश्वर में—सेक्स का प्रश्न भी आया हुआ माना जा सकता है। अतृप्त आकांक्षाओं का दृप्त रूप प्रतिभा में विनोद का आकर्षण पाकर उभरना चाहता है, फिर अवरुद्ध होकर रोग में, उन्माद में, और मृत्यु में परिणत हो जाता है। मनोविश्लेषण यहाँ प्रधान है।

पातिव्रत क्या? क्या प्रतिभा के पातिव्रत पर संदेह किया जा सकता था? काली बाबू जो आरम्भ से समझते रहे थे वह सत्य था, अथवा पत्र पढ़कर जो समझा वह सत्य था—नाटककार ने समस्या की उलझन को भुवनेश्वर की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बना कर उपस्थित किया है—इस समस्या का रंग निरन्तर गूढ़ होता जाता है। इसी से नाटक का एकांकी-सूत्र भी इन सब दुर्बलताओं के रहते हुए भी ठीक-ठाक चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ता जाता है। द्विवेदीजी भुवनेश्वर से कुछ अधिक सावधान और संयमवान हैं—वे प्रतिभा की मान-रक्षा अथवा उसके रूप की रक्षा अन्त तक करते हैं। भुवनेश्वर के पात्रों से विद्रोह उत्पन्न हो जाता है, वे अपने आपको एक दम नष्ट कर देते हैं। मनमें कोई गाँठ नहीं देख पाते—चेतन उनका अत्यन्त उद्भ्रामित हो उठता है। द्विवेदीजी के सारे वातावरण में उसका विपरीत भाव मिलता है। यहाँ सब उद्वेग चेतन के शासन के कारण दबता चला जाता है—द्विवेदीजी की 'सुहागबिन्दी' का चित्र भारत के घरों में, साधारण-कोटि के घरों में मिल सकता है। ऐसे ही चेतन का दबाव हमें उनके परदे का अपर पार्श्व में—रमेश में दिखायी पड़ता है, और जिसकी सूचना भर मिली है. रमेश की प्रेयसी और जमींदार बाबू भगवानदास की पत्नी में भी वह चेतन का दबाव, और अव चेतन का अन्त में उद्घाटन मिलता है—दुबेजी रमेश को सूचना देते हैं कि—'आज चार-पाँच दिन से प्रलाप में बराबर आपका ही नाम उन की ज़बान पर है।'' यथार्थ में मनोविश्लेषण के आधार पर एकाँकियों की रचना करने का श्रेय द्विवेदी को ही है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—'अश्क' जी के संबंध में एक मत इस प्रकार है।

"आपकी रचनाओं में जीवन के प्रति दर्द भरा विद्रोह है। मानसिक संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आपके एकांकियों का गुण है 'पापी' खासतौर पर इसका उदाहरण है।"[1]

एक दूसरा मत है—"इनके नाटकों का क्षेत्र प्रायः पञ्जाब का साधारण मध्यवर्ग है जिसके भोग-व्यस्त जीवन में प्रायः नातिगहन सामाजिक समस्याएँ उठती हैं—जैसे विवाह की उलझन, पारिवारिक दायित्व के प्रश्न जो ज्यादा बुनियादी मसले नहीं हैं। इन समस्याओं को लेखक ने छूकर छोड़ दिया है—उनका विवेचन और समाधान नहीं किया। परन्तु इन सीमाओं का निर्देश कर देने के बाद, अपनी परिधि में अश्क की सफलता अत्यन्त स्पष्ट है।.........बड़ी सफाई और इतमीनान से कहीं-कहीं कारीगरी का भी उपयोग करते हुए, वे समस्याओं को खोल कर रख देते हैं।"[2]

उपेन्द्रनाथ अश्क के एकांकियों में वास्तव में चार अवस्थायें मिलती हैं। एक अवस्था उन नाटकों की है जो १९३६ से ३८ के बीच लिखे गये, जब नाटककार की भावनायें अपनी पहली पत्नी की लम्बी बीमारी और मृत्यु की कटु प्रभावोत्पादिनी घटना के रंग से रँग रही थीं—इस काल में इन्होंने निम्नलिखित नाटक लिखे—१ लक्ष्मी का स्वागत, २ पापी, ३ विवाह के दिन, ४ जोंक, ५ समझौता, ६ क्रासवर्ड, ७ अधिकार का रक्षक।

इनमें पहले तीन दुखान्त हैं और पिछले चार हास्यरस पूर्ण। सातवाँ नाटक हास्य-रस पूर्ण होते हुए भी अपने अन्दर एक नीरव व्यंग्य रखता है और हमारे नेताओं की दो रुखी जिन्दगी का सफल चित्रण करता है। बहुतों को इसमें हास्य प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि जो अन्तरधारा इस एकांकी में काम कर रही है, वह बहुत गंभीर है—उसके बाहरी जीवन और घरेलू जीवन में जो वैषम्य है, वह जो कहता है उसके विरुद्ध करने के दावे भरता है—इसलिए वैषम्य भी गंभीरता की ओर आकर्षित करने वाला है। जो

१—एकांकी नाटक सम्पादक प्रो० अमरनाथ गुप्त।
२—आधुनिक हिन्दी नाटक लेखक नगेन्द्र पृ० १४३।

व्यक्ति प्रवेश करते हैं, वे दीन-दुखी हैं. और अपने साथ हास्य नहीं करुणा लपेटे हुए आते हैं—इन सब चरित्रों की स्वभाव-रक्षा करना भी नाटककार को अभीष्ठ रहा है, अतः भावातिरेक, उन्माद, अथवा विद्रूप परिस्थितियों के निर्माण से हास्य लाने की प्रणाली का उपयोग अश्क में नहीं मिलता—फलतः सभी पात्र अपने स्वाभाविक स्वस्थ रूप में यथावत् अतिरेक हीन रूप में आते हैं—इससे नाटक में हास्य उतना स्फुट प्रतीत नहीं होता। पर समस्त नाटक में नेता का व्यंग है और बालक तथा स्त्री, सम्पादक तथा रामलखन की भूमिका में और अपने वक्तव्यों और घोषणाओं तथा सद् उदगारों के प्रकाश में घनश्यामजी अपनी एक हास्यास्पद रूप-रेखा और छाया तय्यार करते हैं—यहीं इस एकांकी में व्याप्त हास्य है। 'जोंक' और 'समझौता' Pure Comedies शुद्ध प्रहसन हैं। ये विचार प्रधान नहीं, प्रहसन हैं।

इन नाटकों में व्यंगात्मकता का अभाव तो नहीं, पर भावुकता का पुट विशेष है। 'अश्क' जी 'स्वर्ग की झलक' को अपना बड़ा एकांकी नाटक मानते हैं। यह भी इसी काल का लिखा हुआ है, और भावुकता का रंग इसमें भी अधिक है।

दूसरी अवस्था के इनके वे नाटक हैं, जिनमें विचारों की गंभीरता है, और स्टेजकी अपेक्षा उनमें विचारों की गहनता की ओर ध्यान अधिक है। इनमें अधिकांश नाटक 'सांकेतिक (Symbolic)' हैं। इशारों इशारों में मानव मन के उन भेदों से पर्दा उठाने का नाटककार ने प्रयास किया है जो अर्द्धचेतना की गहराई में दबे रहते हैं। ये नाटक १९३९ से १९४२ के बीच में लिखे गये हैं, इस काल के मुख्य नाटक ये हैं—

१—चरवाहे (हंस)।

२—चिलमन ('किरण' नाम से हंस में छापा)।

३—खिड़की (भारत)।

४—चुम्बक।

५—मैमूना (हंस)।

६—देवताओं की छाया में।

७—चमत्कार।

८—सूखी डाली।

इनमें से पहले छः नाटक अत्यन्त सांकेतिक, मनोवैज्ञानिक तथा तीखे विचारों से युक्त हैं। ये उर्दू में बहुत पसन्द किये गये हैं। इन सब में 'चमत्कार' का एक विशेष स्थान है। 'सांकेतिक' ढंग से इसमें चमत्कारों के रहस्य से पर्दा उठाया गया है। यह 'चिलमन' और 'मैमूना' की भाँति दुःखान्त नहीं, पर हास्यरस का होते हुए भी उतना ही महान है।

इनके तीसरी श्रेणी के नाटक वे हैं जो अभी अप्रकाशित हैं। ये प्रधानतः सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक हैं। ये काफी लम्बे हैं—इनके रेडियो संस्करण तो रेडियो पर खेले गये हैं, ये हैं—१ घड़ी, यह एक प्रहसन (कामेडी) है। इसमें एक ऐसी स्त्री का चित्र है जो अपने घर को घड़ी की भाँति चलाना चाहती है, और चला रही है। तभी उसका भाई आजाता है जो पूरा बोहेमियन (Bohemian) है। किसी प्रकार का नियमन या शिष्टाचार उसे मान्य नहीं। उस आदमी की संगति में घर के लोगों की दबी हुई आकांक्षायें कैसे प्रस्फुटित होती हैं—इसमें चित्रित हैं। नाटककार की दृष्टि में स्टेजकला की दृष्टि से यह उसका सबसे श्रेष्ठ एकांकी है।

२—विभा में एक बुद्धिजीवी किन्तु हृदय के किसी कोने में भावुक लड़की के जीवन की ट्रेजेडी है। यह बड़ा विचार प्रधान एकांकी है।

३—आदि मार्ग—एक ही व्यक्ति की दो लड़कियों की ट्रेजेडी है। लड़कियों को उनके पतियों ने त्याग दिया है। एक लड़की अपने पति से, पिता से, अपने वातावरण से विद्रोह करती है। और जब मोटर और मकान का लालच पाकर उसका पति उसे लेने आता है तो वह जाने से इनकार कर देती है। दूसरी का पति दूसरा विवाह भी कर लेता है किन्तु वह फिर भी उसके यहाँ जाने को तय्यार है, क्योंकि वह उससे प्रेम करने लगी है और प्रेम में स्वाभिमान को वह कोई स्थान नहीं देती।

चौथी श्रेणी में वह एकांकी आते हैं, जिसमें 'छटा बेटा' और 'स्वर्ग

की झलक' है। 'छटावेटा' नाटककार के मत से Fantasy है। Fantasy के सम्बन्ध में भी मतभेद है—प्रो० नगेन्द्र का कहना है कि—

"फैंटेसी एकांकी का अत्यन्त रोमाण्टिक रूप है। इस शब्द के हिन्दी में विचित्र अर्थ किये गये हैं। अश्क अपने स्वप्न-नाटक 'छटा-वेटा' को फैंटेसी शायद इसलिए कहते हैं कि उसका तानावाना स्वप्न से बना हुआ है। एक दूसरे सज्जन फैंटेसी में प्राकृतिक घटनाओं का भावमय चित्रण अनिवार्य मानते हैं। परन्तु ये दोनों व्याख्यायें भ्रान्त हैं। फैंटेसी ललित कल्पना की सृष्टि अवश्य है परन्तु उसके लिए यह अनिवार्य है कि लेखक का दृष्टिकोण एकान्त वस्तुगत और स्वच्छन्द हो, उसमें कल्पना का मुक्त विहार होना चाहिए...उसमें से कोई परिणाम निकालने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए... हिन्दी में रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' एकमात्र फैंटेसी है।"

एक दूसरे प्रोफेसर अमरनाथ गुप्त अपना मत देते हैं; "खुले स्थान पर खेले जाने वाले एकांकी जिन्हें Fantasy भी कहते हैं। Harold Brighouse का How the Weather is Made ऐसा ही नाटक है इसका विषय मनुष्य का जीवन न होकर प्रकृति और ऋतुओं का ही मनोरंजक चित्रण है।" ये भी डा० रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' को फैंटेसी मानते हैं क्योंकि वह open air play है।

डा० डबल्यू मरिऑट ने 'वन-एक्ट प्लेज़ आव टुडे' के प्रथम भाग में The Maker of Dreams नामक एकांकी पर नोट देते हुये लिखा है:

"यह नाटक एक फैंटेसी बताया गया है, और उन व्यक्तियों को पसन्द आयेगा जो कल्पना में भाग्यशाली हैं।......'दी मेकर आव ड्रीम्स' का व्यापार केवल कल्पनालोक में ही घटित हो सकता है। वृत्त सुन्दर है—अत्यधिक सुन्दर कि, जीवन को जैसा हमने जाना है, यह उसका चित्र नहीं हो सकता। परियों की कहानी की तरह, यह यथार्थतः कभी घटित हुआ ही नहीं, क्योंकि स्वप्न को बनाने वाले (मेकर्स आव ड्रीम्स) कहीं है हीं नहीं।"

इन वक्तों से यह बात विदित होती है कि 'फैन्टेसी' परियों की कहानी की भाँति कल्पना-लोक की रंगीन सृष्टि होनी चाहिये। साधारणतः उसमें

असम्भव और अद्भुत वातावरण की प्रधानता होगी, रस कैसा ही हो सकता है। उस कल्पना का आधार आलिफेएट डाउन Oliphant Down के जैसा स्वप्न निर्माता व्यक्ति हो सकता है, जो यौवन की उद्‌मुदित कल्पना का एक रूपक-सा है—पर रूपक नहीं है, उसका आधार जे० ए० फर्ग्युसन के 'स्क्वेअर को' की भाँति प्राचीन टोटके-टमने हो सकते हैं, अथवा हेरल्ड ब्रिघाउस Brighouse के 'हाउ दी वेदर इज मेड' में आये जैसे प्राकृतिक तत्व हो सकते हैं; आधार उतना आवश्यक तत्व नहीं जितना कि उसके ताने-बाने का आश्चर्यकारक आद्‌भुत्य और उसके अन्तर में लीलियाँ गढ़ने में कल्पना-शीलता का प्रयोग जो यथार्थ जगत के पात्रों और वातावरण से एक भिन्नता प्रतीत करा सके। यह भी इस एकांकी के लिये आवश्यक नहीं कि वह खुले में ही हो—open air play ही हो। 'अश्कजी' के 'छटावेटा' में सारा कथानक यथार्थ जगत से सम्बन्ध रखता है, उसके अन्तर-विन्यास में कल्पना और आद्‌भुत्य का समावेश नहीं मिलता। केवल स्वप्न के रूप में उसे प्रकट करने से ही वह 'फैन्टेसी' नहीं कहा जा सकता। वह तो केवल नाटकीय कौशल का अंश माना जायगा, नाटक के कथा-निर्माण के अन्तरंग से उसका कोई सम्बन्ध नहीं—और जो कल्पना उसमें है, वह भारत में तथा अन्यत्र भी कहीं घटित हो सकती है। न तो पात्र ही कल्पना-लोक के पात्र हैं, न स्थिति और वातावरण ही—फलतः 'छटावेटा' फैंटेसी' नहीं माना जाना चाहिये।

श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी—एकांकी नाटककारों में 'अवस्थीजी' का एक विशेष स्थान है। आपने 'मुद्रिका', 'बालि वध', 'वे दोनों', 'गृह त्याग' आदि कई छोटे-बड़े एकांकी लिखे हैं। 'एकांकी' के सम्बन्ध में आपका एक स्पष्ट मत है, उसे आपने अपने 'दो एकांकी' नाटक की 'भूमिका' में प्रकट किया है।

"एक बात यह भी समझ लेने की है कि रंगमंच का नाटकों का सम्बन्ध केवल आकार का सम्बन्ध है। नाटक को अनिवार्य रूप से अभिनेय होने के जो पक्षपाती हैं, वे साहित्य रसिक न होकर केवल मनोरंजन के

उपासक हैं। साहित्य के सच्चे पारखी और रंगमंच के तमाशबीन दर्शकों में बड़ा अन्तर है। साहित्य के अनेक अङ्गों में एकांकी नाटक भी एक अङ्ग है। उसकी सार्थकता साहित्य-देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय अनुकूलता पर उतनी नहीं है।" इसके साथ ही उनका यह भी कहना है कि "एकांकी नाटकों में ही नहीं, आजकल के समस्त साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता ऊँची चिन्तना का प्रवेश है।.......आज का युग तो चिन्तनाओं के संघर्ष से ही प्राण ग्रहण करता है। उसके बिना नाटक ही नहीं, सारा साहित्य ही हँसने और रोने की वस्तु हो जायगी।"

इनकी समस्त एकांकी रचनाओं में यही मूल तन्तु हैं—अभिनेयता की ओर ध्यान नहीं दिया गया, जिससे एकांकी की टेकनीक के नाते दृश्यों का उल्लेख और पात्रों का कथोपकथन तथा कुछ स्थूल रंग संकेत ही हैं। एकांकी के लिए जिस गति, जिस संघर्ष, जिस व्यवस्था, जिस संकलन की आवश्यकता होती है, वे अवस्थीजी के एकांकियों में अपेक्षित रूप में नहीं मिलेंगे। 'मुद्रिका' का कथा-सूत्र बड़ा दीर्घकालीन है, बालिवध, वे दोनों, और गृहत्याग की घटनायें भी महिनों की कथा को आधार बनाये हुए हैं। कथोपकथनों में गंभीर वार्तालाप-विवाद-सा बनकर गति को पंगु कर देता है। नाटककार नाटक की अपेक्षा कथोपकथनों में अधिक रुचि दिखाने लगा है, वह कथोपकथन के गुणों के लिए नहीं, वरन् विषय को सब पहलुओं से छानने बीनने के लिए। कथोपकथन का सबसे बड़ा गुण वाक्-वैदग्ध्य (wit) है; मार्मिक बात कही जाय, वह जितना कहे उससे अधिक बोध कराये, बोध से भी अधिक अन्तर रहस्य को झंकृत करे, फिर घटना के आन्तरिक प्रवाह को आगे बढ़ाये, नाटक की गति में सहायक हो। ऐसा अवस्थीजी के नाटकों में नहीं। महाभिनिष्क्रमण या गृहत्याग के 'शुद्धोदन और बुद्ध' प्रथम दृश्य में जैसे विवाद करने के लिए ही बैठे हों, यशोधरा से उसके यशोधरात्व को नाटककारने बिलग करा दिया है, और बुद्ध से दार्शनिक-विचार विनिमय में उलझा दिया है। 'मुद्रिका' और 'महाभिनिष्क्रमण' (गृहत्याग) में यह बात बहुत प्रबल दीखती है—'बालिवध' में यह कुछ उतार पर है, 'वे दोनों'

में यह बहुत कम है, केवल अंतिम दृश्य में 'वृद्धा और वृद्ध' दार्शनिक का समाज और जीवन के आलोचक बनकर कुछ विशेष मुखर हो उठे हैं।

'साहित्य-देवता' की प्रतिष्ठा के लिए अवस्थीजी ने चिन्तना का धरातल बहुत ऊँचा रखा है। मुद्रिका में विविध मतों का व्यर्थ-विभेद दिखाया है, महाभिनिष्क्रमण में विश्व के दुःख और सुख के मूल की विवेचना, तथा उनसे मुक्ति के लिए उद्योग की चेष्टा का आरम्भ दिखाया गया है। 'बालिवध' में 'बालि' का अनार्य जाति को सम्राट मान कर उसके न्याय-पक्ष को बल-पूर्वक रखते हुए भी राम के आर्य-संस्कृति के सिद्धान्त को ऊँचा दिखाया गया है—बालि का राम पर आरोप है—"किसी पर आड़ से छिप कर, घातक आक्रमण करना व्याध को शोभा देता है, वीर को नहीं। क्या आर्य-धर्म की यही व्यवहार-व्याख्या है?" और दूसरे—"आर्यों के आदर्श भले ही उज्वल हों पर उनके अनुसार मुझे दोषी प्रमाणित करना कहाँ तक न्यायोचित है?"

राम ने सुग्रीव की सद्वृत्तियों और अपनी मैत्री के निर्वाह की बात पहले आरोप के सम्बन्ध में कही है—यहाँ पर समदर्शिता पर बड़ा सुन्दर विचार राम द्वारा कराया गया है। दूसरे आरोप के उत्तर में राम के ये शब्द हैं—

"विकासोन्मुख ज्ञान के प्रकाश में जो परम्परा को सतत सुधारता नहीं रहता वह दोष मुक्त कदापि नहीं है। सच्चे आदर्श चिरन्तन सत्य हैं। वे युग विशेष अथवा जाति-विशेष की एकाधिकार सम्पत्ति नहीं।"

'वे दोनों' का कथानक सीधे शब्दों में यह है—

दो व्यक्ति हैं—शक्ल-सूरत में एकसे। एक समय उनमें से एक सेठ हैं और एक ताँगे वाला, एक अश्व विशेषज्ञ, एक बाबूजी हैं तो दूसरा दर्जी। एक सेठ से गिरता हुआ गरीब बन गया है। दूसरा गरीब ताँगे वाले से, अश्वविशेषज्ञ। फिर दर्जी और सम्पन्न खाता-पीता। ये दोनों यथार्थ में भाई-भाई हैं पर अपनी उत्पत्ति का इतिहास वे नहीं जानते। दोनों का धर्म भी भिन्न है, एक हिन्दू दूसरा मुसलमान। पर दोनों एक माँ और एक बाप के पुत्र हैं।

वे मा की अविवाहितावस्था में उत्पन्न हुए और कर्ण की भाँति फेंक दिये गये—एक को मुसलमानों ने यतीमखाने में दाखिल करा दिया, दूसरा हिन्दुओं के हाथ पड़ा, अनाथालय में दाखिल करा दिया गया। इस एकांकी में दार्शनिक-चर्चा या विवेचना-आलोचना तो अन्तिम दृश्य में ही है जहाँ वृद्ध और वृद्धा इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि जिस अवस्था में वे दोनों बालक पैदा हुए थे, उन्हें कलंक न माना जाता तो क्या होता? विवाह पूर्व सन्तानोत्पत्ति का अर्थ क्या हो। वृद्धा के तर्क प्रबलबनाये गये हैं और उसका मत है कि—

"क्वाँरी और क्वाँरे विश्व की अभिव्यक्ति के लिये मात्राएँ और व्यञ्जन हैं। उनकी समष्टि ही सृष्टि का आधार है और कल्याण की नींव है।...... यदि शकुन्तला को कण्व के समक्ष लज्जा नहीं आई तो मुझे भी विश्व के समक्ष परिताप क्यों करना चाहिये!"

पर इसके अतिरिक्त एकांकी कथानक में दुधारी मार है। समाज की वैवाहिक प्रथा पर तो आक्रमण स्पष्टतः है ही—वृद्धा ने उसे यों घोषित किया है—

मुझे तो वह सुन्दरतम क्षण कभी नहीं भूलता जब मैंने खुशी-खुशी अपने क्वाँरेपन के दृश्य पर अपने हाथों यवनिका खींच दी थी। यह जो पाणिग्रहण संस्कार विश्व ने बाद में मेरा किया उसे मैं केवल परिपाटी का अनुलेख समझती हूँ। मन्त्र उच्चारण करते समय मेरी अन्तरात्मा उपहास कर रही थी।

कथा में इससे गहरा व्यंग है, एक तो हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर। वे दोनों—हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई हैं। शक्ल-सूरत में एक, जो परिवर्तन उनमें है वह परिस्थितिजन्य है, उसके लिए यह सब उद्वेग क्यों? साथ ही सेठ तो गरीब हो गया—इसमें सांकेतिक उल्लेख है कि पूँजीवाद में अपनी गाँठ का कुछ नहीं, उसकी जड़ें गहरी नहीं हैं। दूसरों की उपार्जित सम्पत्ति यदि उनके पास न टिकी तो वह दरिद्र हो जायगा और वह दूसरा ताँगेवाला अश्व दिरोपक और दर्जी बना, उसने मजदूरी का भरोसा किया

और हुनर सीखा। उसकी नींव मजबूत रही और वह सम्पन्न होता गया।

अवस्थीजी के एकांकी की चिन्तना का धरातल ऊँचा होता जाता है और उसमें शब्दों का उत्कर्ष भी होता जाता है। भाषा में भी ऊँचाई आ जाती है। एक जटिल शब्दमाला या संस्कृत विन्यास उमँग उठता है। कहीं-कहीं बाणभट्ट की जैसी अलंकारमयी वाणी झंकृत हो उठती है। जिससे पात्रों का व्यक्तिगत चरित्र तो दब ही जाता है, वार्तालाप में एक कृत्रिमता भी आ जाती है। पर अपने विषय की विशदता के कारण और अपने साहित्य-सम्बन्धी मत के कारण नाटककार विवश हो जाता है।

शम्भूदयाल सक्सेना—शंभूदयाल सक्सेना भी नये एकांकी लेखक हैं। हाल ही में आपकी कुछ एकांकी रचनायें प्रकाशित हुई हैं। एक है संग्रह 'वल्कल'। 'वल्कल' में चार एकांकी नाटक हैं। वल्कल, प्रहरी, आतिथ्य, सोने की मूर्ति। चारों एकांकियों में राम-कथा से संबंधित विविध दृश्य है ? वल्कल में 'राम वनवास' के समय का। कैकेयी का वरदान मांगना, और राम का वन गमन। प्रहरी में पंचवटी का दृश्य है। लक्ष्मण और शूर्पणखा संबंधी वृत्त। आतिथ्य में शबरी के यहाँ के आतिथ्य का। सोने की मूर्ति में राम के अश्वमेध में राम द्वारा सीता की सोने की मूर्ति स्थापित करने का। एकांकीकार ने अत्यन्त प्रचलित कथानकों को ही लिया है, उसमें उसने चरित्र और भाव-सौष्ठव को ही महत्व दिया है। चरित्रों की प्रायः सभी रूप-रेखा और भावों का स्वभाव परंपरा प्राप्त ही है, केवल सुष्ठु हिन्दी में मृदुकथोपकथन द्वारा उन्हें प्रकट किया गया है। हाँ, कहीं-कहीं लेखक उस महानता को निभा नहीं सका जो पूर्व के कथाकारों ने प्रस्तुत की है। वल्कल में दशरथ का यथार्थतः सुमन्त को आदेश देना कि राम वन को न जावे, हाँ भरत को राजगद्दी दे दी जाय, दशरथ के चरित्र को दुर्बल बना देता है। न तो वह आदर्शवादी ही रह पाता है, न अवसरवादी ही। प्राचीन आदर्श भग्न हो उठता है, पर कोई नवीन प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। पिता से पुत्र विशेष समझदार बन पड़ा है। पुत्र को पिता के वचनों की रक्षा का ध्यान है। संभवतः सक्सेनाजी ने मानव-स्वभाव की यथार्थ अनुकूलता के लिए दशरथ

में यह दुर्बलता दिखाई है, और मोह उसका कारण बताया है। पर, उधर कैकेयी का वह गूढ़ षडयंत्र आधुनिक राजाओं के रंगमहल का दृश्य प्रस्तुत कर देता है। प्रहरी में शूर्पणखा के सौत बनने के प्रस्ताव पर सीता का भय-भीत होना, और शूर्पणखा को केवल हटाने के लिये ही उस पर आघात करना भी सीता और लक्ष्मण के चरित्र के योग्य नहीं बैठते। आतिथ्य में शबरी का चित्रण भव्य है। सोने की मूर्ति में राम का अन्तर मंथन अच्छा दिखाया है। वे वशिष्ठ के आज्ञानुवर्ती और मर्यादा पालक हैं, पर दूसरे विवाह के परामर्श पर उनका मन विद्रोह कर ही उठता है, और वशिष्ठ को क्षोभ हो ही जाता है। इसमें उर्मिला-माण्डवी आदि में वृद्धों के प्रति अश्रद्धा के बीज मिलते हैं। प्रत्येक एकांकी एक हलकी सरस हिलोर है। इनका एक अलग एकांकी विद्यापीठ है। यह पौराणिक कथानक पर रचा गया है। शुक्राचार्य जी के आश्रम में 'कच' का 'संजीवनी' विद्या सीखने जाना, वहाँ शुक्राचार्यजी की पुत्री का कच पर मोहित हो जाना, उसकी विद्या-प्राप्ति में पूरी सहायता देना, अन्त में कच से असन्तुष्ट होकर उसे शाप देने की कथा है। यथार्थतः प्रेम-कथा है जिसमें ब्रह्मचारी के आदर्श की प्रतिष्ठा, और विद्यापीठों में जातीयता के भावों के विरोध का संकेत है। शुक्राचार्यजी में मानसिक द्वन्द्व और संघर्ष है।

यह एकांकीकार प्रचलित प्रसिद्ध कथाओं को अपनी रचनाओं का आधार बनाता है। उनके सरल चित्र अपने एकांकियों द्वारा प्रस्तुत करता है। अधिक उत्तेजना विशेष भावावेश इसे पसन्द नहीं। न समस्याओं से संबंध है न उद्वेग से। न कोई अनोखापन ही इस एकांकीकार को रुचता है। एकांकी-कार ने इन प्राचीन चरित्रों को नयी सुषमा प्रदान करदी है। एक चित्रमयता है, जिसमें न उपदेश की ओर आग्रह है, न कोई आदर्श प्रतिष्ठित करने की उतावली। जो प्रतिष्ठित है, उसी का एक अनुवाद-सा नयी स्फूर्ति के साथ प्रस्तुत कर देना-भर यही इस एकांकीकार की विशेषता है। फिर भी इस एकांकीकार में समयोचित साहस का अभाव नहीं। कमजोरी को यथार्थतः कमजोरी की भांति ग्रहण करने में वह नहीं चूकता। पर जहाँ कहीं किसी

आक्षेपयोग्य आचरण की पुष्टि करना चाहता है, वहाँ औचित्य में कमी कर जाता है। सीता-निर्वासन का समस्त दोष वशिष्ठ पर आरोपित करना, इसका उदाहरण है। इनके एकांकी एक से अधिक दृश्य वाले हैं। 'विद्यापीठ' में तो समय की सीमा का भी कोई ध्यान नहीं रखा गया। कच के विद्यापीठ प्रवेश से विद्या-समाप्ति तक का लम्बा समय सिमिट कर आगया है। 'वल्कल' के एकांकियों में फिर भी समय के साथ इतनी स्वतन्त्रता नहीं दिखाई गई।

पांडेय बेचन शर्मा उग्र—उग्रजी हिन्दी के महान लेखकों में हैं। 'एकांकी' के क्षेत्र में आप नवोत्थान के आरंभकर्त्ता ही माने जायँगे। अफजल बध, उजबक, चार बेचारे, भाई मियाँ, राम करे सो होय, आदि कई एकांकी लिखे हैं। प्रत्येक दिशा में आपकी शैली बड़ी प्रभावोत्पादक होती है, यद्यपि घासलेटी-साहित्य के विरोध में होने वाले आन्दोलन के बाद कुछ काल तक चुप रहने के बाद आपने जो लिखना आरम्भ किया है, उसमें शैली कुछ शिथिल हो गई है, फिर भी मौलिक बल का ह्रास नहीं हुआ है। वह मौलिक गुण है रसिक विनोद शीलता के साथ किसी प्रबल समस्या को गूंथ देना है। उग्र मनोद्वेलन और विलासिता की चसक में प्रबल आकर्षक ऐन्द्रिकता को मिला देने में उग्र को अद्‌भुत सफलता मिली है। हृदय में विद्रोह का तूफान पर रस की सिसकियाँ! उग्र की मुँह फट लेखनी इस दिशा में अपना सानी नहीं रखती, यही उग्र का बल है, यही उसकी दुर्बलता। पर इनके एकांकियों में विनोदशीलता तो मिलेगी—बहुतही चलताऊ भाषा का प्रबल साहित्यिक प्रयोग भी; पर इसमें विलासिता की चसक और ऐन्द्रिकता का प्रायः अभाव है। क्या ऐतिहासिक, क्या सामाजिक, क्या साधारण सभी विषयों पर एकांकीकार उग्र अधिकार से लेखनी चलाता है। 'राम करे सो होय' में तो ईश्वरीय अन्ध-विश्वास का सफल चित्र सर्वसाधारण में प्रचलित कहानी के आधार पर उपस्थित किया है। जो उग्र कभी अन्धःविश्वासों को ठोकर जमाता हुआ, विद्रोही नारा बुलन्द किये हुए था, उसने अपने प्रहसनीय परिहास के लिये इसमें प्रचलित विश्वासों और कहानियों को आश्रय दिया है।

सुदर्शन—कहानीकार सुदर्शन में भी पहले कथोपकथन की विशेषता

थी, वह प्रवृत्त हुई और सुदर्शनजी ने भी एकाँकी लिखे। इनकी रुचि अधिकांश ऐतिहासिक विषयों पर रही है, इनके प्रसिद्ध एकाँकी दो तीन हीं हैं, वे ऐतिहासिक हैं, आवेगों की प्रधानता रहती है, किसी आदर्श की प्रतिष्ठा मुख्य ध्येय रहता है। कथोपकथन सावेश लिये जैसे इनके चुस्त रहते हैं, वैसे कम एकांकीकारों के मिलेंगे। पर इन्होंने विशेष एकांकी नहीं लिखे।

भगवतीचरण वर्मा—ये कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, एकांकीकार सभी हैं। गंभीर भी लिखते हैं, और प्रहसन भी। ये अपने एकांकियों में आवेश-मय-वातावरण में एक अप्रवृत्त मनोवृत्ति वाला धूर्त उपस्थित कर देते हैं, पर ऐसे ढंग से कि उसे कोई धूर्त भी न कह सके। इसी विधान में वे बड़ी-बड़ी गंभीर बातें भी कहला डालेंगे। यथार्थ की ओर एकांकीकार की प्रवृत्ति है, पर यथार्थ को वह उससे विपरीत सिद्धान्त और स्थिति की आलोचना के लिये प्रस्तुत करता है। यथार्थ यथार्थ से इतर व्यापार के लिये एक व्यंग बन जाता है। यह बड़ा अद्भुत कौशल है। किसी विद्रोह-मय भाव को यों प्रहसन मय स्थिति में प्रस्तुत करना प्रतिभा की अपेक्षा रखता है।

हिन्दी में आज एकांकियों के लिखने में नयी-नयी शैलियों की उद्भावना हो रही है। कितने ही प्रकार के एकांकी हिन्दी में मिलते हैं।

हिन्दी के इन प्रमुख एकांकियों के अतिरिक्त जिनकी विस्तृत आलोचनायें इस पुस्तक में दी गई हैं—और भी कितने ही एकांकी और एकांकीकार हैं। उनका बहुत संक्षिप्त उल्लेख हम यहाँ किये देते हैं—

एक हैं अविनाशचन्द्र—'राह के काँटे' नामक एकांकी में इन्होंने मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा के एक दृश्य के द्वारा वर्तमान समाज के विविध अत्याचारों को स्पष्ट किया है। सरयू विधवा है, उसमें प्रकृत काम उत्पन्न होता है। पर भारी सामाजिक अवरोध से वह दब कर भीतर पैठ जाता है। फलतः वह रोगी हो जाती है। डाक्टर उसकी मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा करता है—वह उसके अन्तर में से उठा कर चाचा-चाची, माता-पिता, खुदा सब को निकलवाता है और मरवा देता है—सरयू स्वस्थ हो जाती है। 'विडम्बना' में वर्तमान शिक्षित वर्ग के मुक्त-प्रेम और विवाह के आन्तरिक

अन्तर तथा समाज में उसके अपवाद के भय की विडम्बना दिखायी है। लिली तीन दिन गायब रही। उसकी समस्या सुलझाने आये हैं उमा, शान्ति और शान्ति के पति सतीश। रहस्य खुलता है कि उमा और सतीश प्रेमी हैं परहेज रहित। शान्ति है पतिव्रता स्त्री। 'पुनर्निर्माण' में पृथ्वी के भगवान की परेशानी दिखायी गई है क्योंकि पृथ्वी के मानव अब अपने भगवान का अस्तित्व नहीं मानना चाहते। हार कर भगवान दूसरा मानव बनाना चाहते हैं, तभी दूसरे लोकों के भगवान और भगवानी आकर सलाह देते हैं : ऐसा सभी लोकों में है। बस तुम मनुष्य के कामों में दखल देना छोड़ दो। 'देशरक्षा के लिए' में एक फैक्टरी सम्बन्धित कहानी कल्पित करके यह दिखलाने की चेष्टा की है कि पूंजीपतियों को अपने बल के आधार पर आज मजदूरों का सामना करने की तैयारी नहीं करनी चाहिए, वरन् उन्हें खूब वेतन देकर फैक्टरियों में अधिकाधिक काम कराना चाहिये और लड़ाई में मदद देनी चाहिये—ऐसा देश की रक्षा के लिए।

प्रो॰ आनन्द ने 'सितमगर' एक फक्कड़ अलमस्त फकीर भिखारी की मनोवैज्ञानिक स्थिति प्रकट की है। वह बहुत अच्छा गाना गा जानता है, जिससे बहुत से पैसे आते हैं। भिखारियों से व्यवसाय करने वाला उसे अपने यहाँ रखना चाहता है, वह उसके यहाँ नही जाना चाहता और उसके चक्र में फँसकर जेल जाने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। वह मन मौजी है। इनके एक एकांकी 'डाक्टर जीवन' के सम्बन्ध में ऊपर विचार व्यक्त किये जा चुके हैं। 'प्यास' में नाटककार ने विवाह-संस्था की अनुपयोगिता सिद्ध की है। नाटककार यह प्रदर्शित करना चाहता है कि प्यास लगती सबको है। यदि प्यास शुद्ध जल की हो तो वह बुझ भी सकती है। उसका नियमन भी हो सकता है। विवाह-संस्था उस प्यास को बुझाती नहीं, दबाती है। आत्म-संयम उसमें नहीं, आत्म बलात्कार हो जाता है। 'मिस्टर मौलिक' में आपने एक ऐसे व्यक्ति पर व्यंग किया है जो स्वयं किंचित भी मौलिक नहीं। भाषा पर अंग्रेजी का प्रभाव, भाव-दृष्टि भी विदेशी—वे विदेशी साहित्य में ही मौलिकता पाते हैं।

इन नाटककारों के अतिरिक्त और भी कितने ही एकांकीकार हैं ; जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। यहाँ तक एकांकियों और एकांकीकारों का जो वृत्त दिया गया है, वह हिन्दी एकांकी की प्रतिभा और शक्ति का आशाप्रद रूप प्रस्तुत करता है। भविष्य तो और भी महान है।

---o---

भाग ३

तत्व विवेचना

एकांकी नाटक : परिभाषा और तत्व

[विविध मत]

हिन्दी में आधुनिक 'एकांकीनाटक' की टेकनीक नयी होने पर भी काफ़ी उन्नति कर चुके हैं। उसके सम्बन्ध में अनेकों मत भी प्रचलित हो चुके हैं। हम उन्हें जानलें यह अच्छा होगा।

सद्गुरुशरण अवस्थीजी ने बताया है कि :—

"हम कला की परम्परा वाली, मन उबा देने वाली परिपाटी कभी भी अधिक काल तक स्वीकार नहीं कर सकते। दीर्घकाय नाटकों के लम्बे-लम्बे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विषयान्तरता, तथा वर्णन-बाहुल्य, कथा-विकास तथा चरित्र-विकास की लपेट में काव्य-विकास का लम्बा प्रयोग, औत्सुक्य प्रधानता के लिए एक उलझी कल्पनायें सब बातें युगों से सबको परेशान किये है। एकांकी नाटक में हम इनकी छाँह भी देखना पसन्द नहीं करते।

एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या प्रबल होती है। कार्यकारण की घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें स्थान नहीं होता। एकांकी नाटक के वेग सम्पन्न प्रवाह में किसी प्रकार के अन्तर-प्रवाह के लिये अवकाश नहीं होता। वह तो समूचा ही

केन्द्रीभूत आकर्षण है। उसके रूप में परमता और उत्कर्षता सर्वत्र ही बिखरी रहती है। विवरण ही शैथिल्य उसका घातक है। कथा-वस्तु, परिस्थिति, व्यक्तित्व इन सबके निदर्शन में मितव्ययिता और चातुरी का जो रूप अच्छे एकांकी नाटकों में मिलता है वह साहित्य कला की अद्वितीय निधि है। आकार का केन्द्रीकृत प्रभाव तथा वैयक्तिक और समाजिक विशेषताओं की केवलता एकांकी नाटकों को कहीं अधिक सुन्दर बना देती है।

['मुद्रिका' की भूमिका में]

सेठ गोविन्ददासजी ने लिखा है :—

'उपन्यास और कहानी की लेखन पद्धति (टेकनीक) में जो अन्तर है वही फर्क पूरे नाटक और एकांकी की लेखन पद्धति में।'

'पूरे नाटक के लिये 'संकलनत्रय' जो नाट्यकला के विकास की दृष्टि से बड़ा भारी अवरोध है, वही 'संकलनत्रय' कुछ फेरफार के साथ एकांकी नाटक के लिये जरूरी चीज है। 'संकलनत्रय' में 'संकलनद्वय' अर्थात् नाटक एक ही समय की घटना तक परिमित रहना तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना तो एकांकी नाटक के लिये अनिवार्य है। जो यह समझते हैं कि पूरे नाटक और एकांकी नाटक का भेद केवल उसकी बड़ाई छुटाई है, मेरी दृष्टि से भूल करते हैं। एकांकी नाटक छोटे ही हों, यह जरूरी नहीं है, वे बड़े भी हो सकते हैं।'·····'एकांकी नाटक में एक से अधिक दृश्य भी हो सकते हैं, पर यह नहीं हो सकता कि एक दृश्य आज की घटना का हो, दूसरा पन्द्रह दिनों के बाद की घटना का, तीसरा कुछ महीनों के पश्चात् का और चौथा कुछ वर्षों के अनन्तर। यदि किसी एकांकी में एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकते हैं। 'स्थल संकलन' जरूरी नहीं है, पर 'काल-संकलन' होना ही चाहिए। किसी-किसी एकांकी नाटक के लिये 'काल-संकलन' भी अवरोध हो सकता है। ऐसी अवस्था में 'उपक्रम' या 'उपसंहार' की योजना होनी चाहिए।'·· ···'कभी-कभी 'काल संकलन' रहते हुए भी इनका उपयोग हो सकता है।'·····

"एक ही विचार (आइडिया) पर एकांकी नाटक की रचना हो सकती है। विचार के विकास के लिये जो संघर्ष (कनफ्लिक्ट) अनिवार्य है, उस संघर्ष के पूरे नाटक में कई पहलू दिखाये जा सकते हैं। पर एकांकी में सिर्फ एक पहलू......परन्तु एकांकी में कथा के एक पहलू को लिया जा सकता है......एकांकी में तो मुख्य और गौण दोनों ही पात्रों की संख्या बहुत ही परिमित रहनी चाहिए।"

डा० रामकुमार वर्मा ने पहले पृथ्वीराज की आँखें नामक एकांकी संग्रह में यों व्याख्या की है :

"एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है, और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा (Climax) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता।......विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं।"

फिर वर्माजी ने 'रेशमी टाई' में 'मेरा अनुभव' लिखा है और उसमें इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण किया है।

(संस्कृत नाटकों में)...चरम सीमा (Climax) के लिए कोई स्थान नहीं है, यद्यपि कौतूहल और जिज्ञासा की सबसे बड़ी शक्ति उसमें निवास करती है।....जब नायक की विजय का सिद्धान्त लेकर नाटक चलता है तब चरमसीमा (Climax) के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है जिसमें एक-एक भावना नायक को मृत्यु या पराजय के मुख में ढकेल सकती है।...

पश्चिम के नाट्यशास्त्र के अनुसार...उसमें अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं का घात-प्रतिघात प्रमुख है। उसमें विषम परिस्थितियों की अवतारणा प्रमुख स्थान रखती है।...दो भिन्न परिस्थितियाँ अपने सम्पूर्ण सत्य के साथ लड़ती हैं और यह संघर्ष पद-पद पर व्यंजना के साथ आशा और निराशा की ओर झुकता है। इसलिए नाटक की सीमा अपने समस्त वेग से

एक बिन्दु में सधी रहती है। इसके अनुसार कथावस्तु का रेखा-चित्र कुछ इस प्रकार होगा। (रेखा चित्र नं० १)

चरम सीमा
जिज्ञासा
कौतूहल
आश्चर्य
वातावरण
सुखान्त या दुखान्त

(चित्र नं. १)

चरम सीमा
[अन्त]
कौतूहल
गति
गति
गति
गत घटनाओं की व्यंजना
प्रवेश

(चित्र नं २)
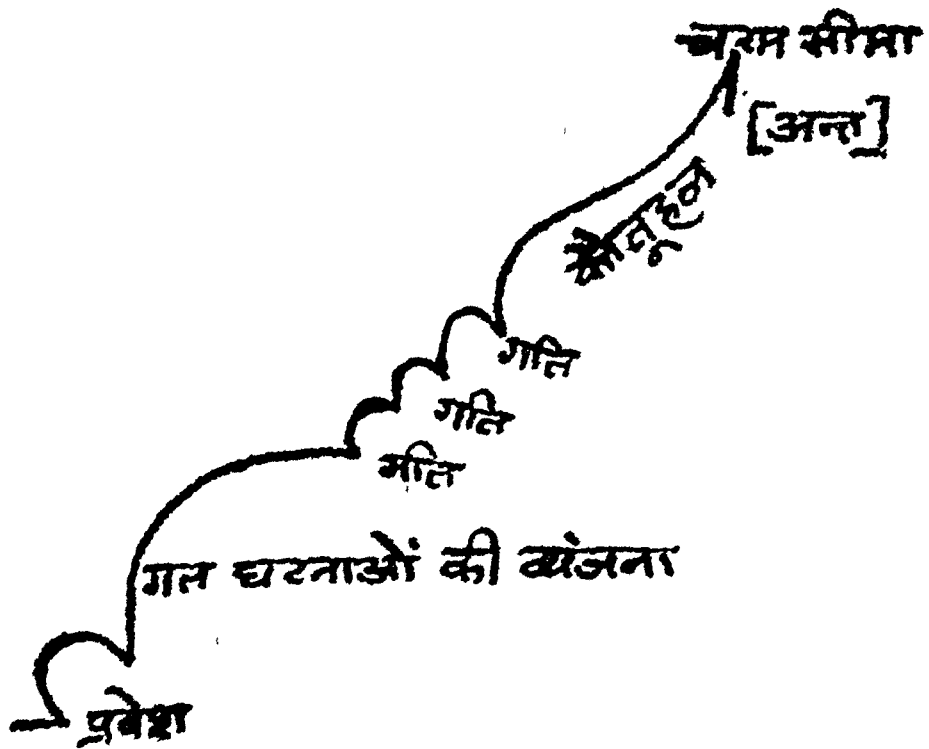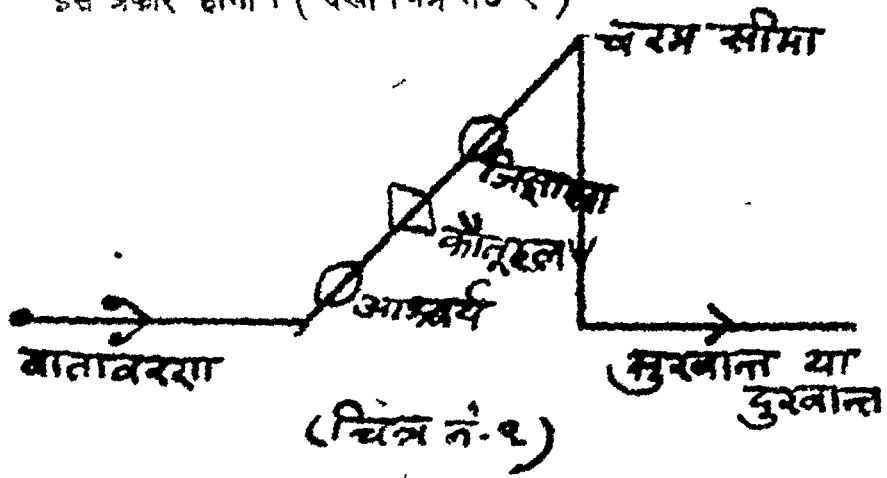
साधारणतः नाटक की कथा-वस्तु यही रूप धारण करती है। किन्तु एकांकी नाटक में साधारण नाटक से भिन्नता होती है। उसके कथानक का रूप तब हमारे सामने आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उसके प्रारम्भिक वाक्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानकत्ति प्रगति से आगे बढ़ता है। और एक-एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ़ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घंटे के संघर्ष में और वर्षों की घटनाएँ एक मुस्कान आँसू में उभर आती हैं। वे चाहे सुखान्त रूप में हों या दुखान्त रूप में! इस घनीभूत घटनावरोह में चरम सीमा विद्युत की भाँति गतिशील होकर आलोक उत्पन्न करती है और नाटककार समस्त वेग से बादल की भाँति गर्जन करता हुआ नीचे आता है। एकांकी नाटक की कथावस्तु का रेखाचित्र मेरी कल्पना में चित्र नं॰ २ के अनुसार है।

प्रवेश कुतूहलता की वक्रगति से होता है। घटनाओं की व्यंजना उत्सुकता से लम्बी हो जाती है। फिर घटना में गति की घनीभूत तरंगें आती हैं जो कुतूहलता से खिंच कर चरम-सीमा में परिणित होती है। चरम सीमा के बाद ही एकांकी नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिए नहीं तो समस्त कथानक फीका पड़ जाता है।.........

मेरे सामने एकांकी नाटक की भावना वैसी ही है जैसे एक तितली फूल पर बैठ कर उड़ जाय।"

इन तीनों विद्वानों के मत में साम्य है फिर भी वे भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। अवस्थी जी ने आकार-प्रकार को सामने रख कर एकांकी की व्याख्या की है। उन्होंने इस दृष्टि से ये तत्व आवश्यक माने हैं :

१—सुनिश्चित, सुकल्पित, एकलक्ष्य।

[इसका अर्थ यह है कि नाटककार चाहे जिस प्रकार आरम्भ कर, चाहे जिस प्रकार चलता हुआ चाहे जिस प्रकार समाप्ति नहीं कर सकता है। एकांकी का पूर्ण रूप उसकी दृष्टि में लक्ष्य की दृष्टि से पहले ही प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए।]

२—एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या।

३—वेग सम्पन्न प्रवाह।

४—सब के निदर्शन में मितव्यय और चातुरी।

सेठ गोविन्ददास जी ने एकांकी के 'संविधान' को दृष्टि में रखकर परिभाषा की है। 'संकलनत्रय' में से 'संकलन द्वय' एकांकी के लिए आवश्यक है। वे हैं

१—एक ही समय की घटना।

२—एक ही कृत्य।

स्थल संकलन जरूरी नहीं।

आगे चलकर उन्होंने 'काल-संकलन' (Time Unity) से बचने का उपाय 'उपक्रम' या 'उपसंहार' के रूप में बताया है। इस प्रकार सिद्धान्ततः काल-संकलन की भी आवश्यकता उनकी दृष्टि में नहीं रही। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' के द्वारा 'काल-संकलन' का संहार करके सेठजी ने एकांकी के केवल मुख्य अंशों में ही उसकी अनिवार्यता पर जोर दिया है।

सेठ जी ने संघर्ष के एक ही पहलू को एकांकी के लिए आवश्यक माना है। अवस्थी जी ने संघर्ष का उल्लेख नहीं किया। अवस्थी जी ने 'ऊँची चिंतना' आवश्यक बताई है। सेठ जी ने नाटकों में आने वाले संघर्ष का रूप स्पष्ट नहीं किया।

वर्मा जी की परिभाषा में एक तीसरी ही दृष्टि है। वह नाटक के तन्त्र या टेकनीक पर निर्भर करती है। उसके आवश्यक तत्व वर्मा जी ने ही चित्र द्वारा बहुत स्पष्ट कर दिये हैं :

एक घटना विविध गतियों से तरंगित होती हुई चरम तक पहुँचती है और फिर वहीं समाप्त हो जाती है।

प्रोफेसर नगेन्द्र ने लिखा है:—

"स्पष्टतया एकांकी एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक है और यद्यपि इस अंक के विस्तार के लिए कोई विशेष नियम नहीं है, फिर भी छोटी कहानी की तरह उसकी एक सीमा तो है ही। परिधि का यह संकोच

कथा-संकोच की ओर इंगित करता है—और एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर, उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।''''''

उसके लिए एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है—किसी प्रकार का वस्तु-विभेद उसे सह्य नहीं। एकाग्रता में आकस्मिकता की झकोर अपने आप आ जाती है और इस झकोर से स्पन्दन पैदा हो जाता है। विदेश के संकलनत्रय का निर्वाह भी इस एकाग्रता में काफी सहायक हो सकता है, पर वह सर्वथा आवश्यक नहीं। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही, लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किए बिना भी सफल एकांकी की रचना हो सकती है और प्रायः होती है। 'उस पार' अथवा 'एक ही कब्र में' जैसे एकांकी स्थान और समय का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते। यहाँ समय में वर्षों का अन्तर है और स्थान में सैकड़ों मीलों का।"

प्रोफेसर नगेन्द्र जी का मत सेठ गोविन्ददास से मिलता है। उनकी दृष्टि से इसमें—एक अंक,

विस्तार की सीमा कहानी जैसी।

जीवन का एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण।

एकता
एकाग्रता
आकस्मिकता } अनिवार्य

संकलन त्रय उतना अनिवार्य नहीं

प्रभाव और वस्तु का ऐक्य अनिवार्य

स्थान और काल की एकता अनिवार्य नहीं

प्रोफेसर अमरनाथ ने एकांकी के संबंध में निम्न निर्देश दिये हैं—

१—एकांकी की समाप्ति एक ही बैठक में अनिवार्य है। यह एक ही बार और एक ही समय में खतम होने वाली कृति है।

२—बिजली की रफ्तार-सी ही उसकी गति है।

३—उसका विषय एक ही होता है।

४—सहायक विषयों के लिये उसमें कोई स्थान नहीं।

५—एकांकी फौरन प्रारम्भ हो जाता है।

६—शीघ्र ही विन्दु तक उसे पहुँचना होता है और अन्त भी उसी प्रकार आकस्मिक होता है।

७—क्षेत्र संकुचित पर प्रभावसाम्य अनिवार्य।

८—सहायक घटनायें कभी-कभी आ सकती हैं, किन्तु वह मुख्य घटनाओं से अलग न जान पड़े। मेजर घटना जो चुम्बक सदृश उसका ध्यान आकर्षित करती है, अनिवार्य है। आगे लेखक यह भी कहता है कि सहायक घटनायें चाहे उनका कितना ही सफल प्रतिपादन हुआ हो एकांकी में बाधा-स्वरूप ही पड़ती हैं।

९—एकांकी का विषय जीवन की एक घटना ही है।

१०—कथावस्तु जटिल नहीं होती।

११—ऐक्य एकांकी का आवश्यक अङ्ग है।

१२—एकांकी जरूरी नहीं छोटा ही हो। अक्सर यह छोटा ही होता है क्योंकि ऐक्य उसका ध्येय होता है।

१३—विषय और समय की किफायत में ही कल्याण है।

इन मतों से 'एकांकी' के सम्बन्ध की रूपरेखा बहुत स्पष्ट हो जाती है, यद्यपि जो रूप इस प्रकार खड़े किये गये हैं, वे पूर्ण नहीं और ज्यों के त्यों ही मान्य नहीं हो सकते। ऊपर जो मत दिये गये हैं उनमें से अधिकांश उन व्यक्तियों के हैं जो स्वयं कलाकार हैं; और बहुधा उन्होंने अपनी कला की अनुभूति और अभिव्यक्ति के अनुरूप ही यह व्याख्या दी है। फलतः हमें ऐसे भी एकांकी मिलते हैं जिनमें स्थल भेद है—मीलों का अन्तर है—जैसे गणेशप्रसाद की 'सुहागबिन्दी' में। और ऐसे भी एकांकी मिलते हैं जिनमें स्थल भेद किञ्चित नहीं। उपेन्द्रनाथ का 'लक्ष्मी का स्वागत'। ऐसे भी एकांकी मिलते हैं जिनमें काल भेद है, वर्षों का अन्तर है—फिर 'सोहागबिंदी' ही

ले लीजिये। ऐसे भी हैं जिनमें किंचित भी काल भेद नहीं—डा० रामकुमार वर्मा का 'दस मिनट'। कलाकारों के कौशल ने इन विभिन्नताओं अथवा कमजोरियों को ऐसा दबा दिया है कि नाटक की सफलता में ये बाधा नहीं पहुँचातीं। फलतः एकांकी की परिभाषा में यह मानना पड़ जाता है कि स्थल और काल संकलन की अनिवार्यता नहीं, इसीलिये यह भी मानना पड़ जाता है कि एकांकी के लिये यह अनिवार्य नहीं कि वह छोटा ही हो। फिर भी ऐसा विधान करने वाले सभी इन्हें अपवादों की भाँति ही स्वीकार करते हैं, नियम की भाँति नहीं।

'एकांकी' बड़े नाटक का एक अङ्क नहीं—किसी भी नाटक के एक अङ्क में हमें कितनी ही शाखा-प्रशाखायें, कितना ही फैलाव मिल सकता है, वे उसमें तीव्र गति से अपनी समाप्ति की ओर भी दौड़ती नहीं दिखायी पड़ सकतीं। स्थल और काल संकलन की उनके लिए अनिवार्यता नहीं, क्योंकि प्रासङ्गिक और मुख्य वस्तु की कई घटनायें अलग-अलग मिल-जुल कर चलती प्रतीत होती हैं। एक अङ्क में विविध दृश्यों का विधान इसी दृष्टि से होता है। तब यदि हम यह मान लेते हैं तो, यह कहना पड़ेगा कि एकांकी में एक ही अङ्क होना चाहिए और एक ही दृश्य। उसमें स्थल और काल का संकलन भी होना चाहिए। जिन एकांकियों में इसका निर्वाह हुआ है वे फोटो के 'आउट आव फोकस' के चित्र जैसे लगने लगते हैं, जिसमें वस्तु तो आगयी दीखती है, पर जिसकी रेखायें अस्वाभाविक रूप से फैल गयी होती हैं। गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सुहागबिंदी' में यह स्थलान्तर और कालान्तर बिन्दी की बिन्दुता को तो छिन्न कर देता है, उसकी कथा का वेग भले ही उसे सम्हाले रहता हो। सेठजी के 'उपक्रम' और 'उपसंहार नाटक रूपी पतंग में चिपके हुए पुच्छल्ले से लगते हैं, वे नाटककार की दृष्टि में उसके नाटक की किसी आन्तरिक कमी (Internal weakness) को भले ही पूरा करते हों, नाटक को कला की दृष्टि से उत्कृष्टता की ओर नहीं ले जाते। ये सब एकांकी की आन्तरिक कमजोरी की चिकित्सा

के लिये हो सकते हैं। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' जोड़ने वाला एकांकीकार अपने मूल एकांकी की असफलता का स्वयं ढिंढोरा पीटता प्रकट होता है।

जो एकांकीकार विविध दृश्यों का दर्शन करता है, वह एक ऐसे दृश्य का भी रूप प्रस्तुत कर सकता है जिसमें वह दृश्य ही सब को समाहित करले, उस क्षण की भी सत्ता देख सकता है, जिसमें युग चित्रित हो, उस एक क्षण की अनुभूति कर सकता है, जिसमें अनेकों का सम्मीकरण हो। इसी में उसकी प्रतिभा की अपेक्षा है उसकी प्रतिभा समस्त नाटकीय वस्तु का दर्शन करके, उसमें से उस स्थल और काल को चुन कर अपने एकांकी के दृश्य का विषय बनायेगी जिसमें समस्त वस्तु समा जाय। डा० रामकुमार वर्मा के 'चारुमित्रा' को लीजिये—शिविर का केवल वह भाग प्रस्तुत किया गया है जिसमें तिष्य रक्षिता है—वहीं से नाटककार ने अन्तर और बाहर दोनों का विशद कांड उपस्थित कर दिया है। 'उत्सर्ग' में भूत और वर्तमान को मिला कर एक लम्बी कथा को कुछ घंटों में समेट दिया है।

शास्त्रकार तो 'संकलनत्रय' का उपयोग बड़े नाटकों तक में चाहते हैं, जैसे 'मीना' में हुआ है, तो एकांकी में तो उसकी नितान्त अनिवार्यता ही होनी चाहिये। उसी के द्वारा कला का यथार्थ विकास हो सकता है।

एकांकी को नाटक का संक्षिप्त रूप भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का कहना है कि वह नाटक का छोटा रूप है, या छोटा नाटक है। नाटक तो वह है, दृश्य और अभिनेय होने के कारण, पर 'नाटक' की शास्त्र द्वारा जो परिभाषा की जाती है उससे वह 'नाटक' छोटा नाटक नहीं। छोटे नाटक कहने के अर्थ होंगे कि उसमें नाटक के सभी तत्व मिलते होंगे, पर जैसा ऊपर बताया जा चुका है, जब नाटक के एक अङ्क तक से एकांकी का साम्य नहीं बैठता तो सम्पूर्ण नाटक के सब तत्व इसमें कैसे मिल सकते हैं। प्रासंगिक कथाओं का निषेध होता है, घटनाओं के घटाटोप का वारण होता है, किसी चरित्र के आदि-मध्य-अवसान के पूर्ण विकास का अवकाश नहीं रहता, नाटक के उतार-चढ़ावों की भी इसमें गुञ्जायश कहाँ है?

अतः 'एकांकी' स्वतन्त्र टेकनीक वाला साहित्य का एक भेद है—इसमें स्थल-काल और व्यापार के संकलन मिलने चाहिए। यह तो एकांकी की सीमाओं की स्थापना है।

अब उसकी आंतरिक गति और आंतरिक विकास की अवस्था—इसमें एक बात तो यह मिलती है कि 'आरम्भ' बहुत छोटा होना चाहिये, इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि पर्दा खुलते ही पात्र वस्तु पर टूट पड़ें। सब से पहले मुख्य वस्तु से किसी भिन्न बात को लेकर आरम्भ हो सकता है, जब आरम्भकर्त्ता पात्रों का परिचय होले तो शीघ्र ही मुख्य वस्तु दृष्टिगोचर हो जानी चाहिये। उदाहरण के लिये हेरल्ड ब्रिघाउस के 'स्टोकर' में 'शीला' और 'आर्ची' प्रवेश करके पहले तो कैप्टेन के कमरे में इस प्रकार चले आने पर कुछ तर्क-वितर्क करते हैं, तब क्रिसमस तक मार्सेलोज पहुँच जाने के सम्बन्ध में चर्चा होती है। आते ही वे यह चिन्ता प्रकट नहीं करते कि कैप्टेन कहाँ हैं जहाज क्रिसमस तक मार्सेलोज पहुँचेगा या नहीं। 'आरम्भ' के बाद वस्तु गति-शील हो उठनी चाहिए—उस गति में संचारी भाव की तरह कभी कोई स्मृति जग उठनी चाहिये, इस 'स्मृति' के संचार से वर्तमान कहानी के विगत में फैले हुये छोर स्पष्ट किये जा सकते हैं, और कहानी में आरम्भ सम्बन्धी पूर्णता आ सकती है। 'पृथ्वीराज के आँखों में' 'चंद' को पृथ्वीराज ने अपने विगत इतिहास की सूचना दी है—यह 'स्मृति' के अन्तरगत ही है। 'सुहाग बिंदी' में महाराज 'प्रतिभा' सम्बन्धी अपनी स्मृतियाँ काली बाबू को बताता है, इससे प्रतिभा के हृदय का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। ऐसा 'स्मृति' संचार दो काम करता है। एक तो सूचना देता है, दूसरे मर्म-स्पर्शिता उत्पन्न करता है। यह 'स्मृति' स्वयं मुख्य पात्र में उत्पन्न हो सकती हैं, अथवा इसके लिये किसी 'माध्यम' का उपयोग हो सकता है। 'स्मृति' के द्वारा किसी मानसिक निश्चय को बदलने का भी काम लिया जा सकता है। '१८ जुलाई की शाम' में 'राजेश्वरी का उपयोग ऐसे ही माध्यम के लिये किया गया है—वह 'प्रमोद' के चरित्र की उज्ज्व-

लता का पहलू उपस्थित करती है, और 'अशोक' के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया भी। वह 'ऊषा' के मानसिक निश्चय को बदलने में सहायक होती हैं।

एकांकी नाटक में नायक प्रतिनायक की भी कल्पना हो सकती है, यह ऐसे नाटकों में जिनमें प्रेम का बाह्य संघर्ष भी प्रस्तुत है। पर यह अनिवार्य नहीं। प्रधान पात्र के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र गौण हो सकते हैं, और वे प्रधान पात्र से संबंधित नाटकीय वस्तु को विकसित करने में ही सहायक होते हैं। 'अश्क' जी के 'लक्ष्मी का स्वागत' में प्रधान पात्र तो है, पर उसके मित्र नौकर माता-पिता ये सब उससे संबंधित सूत्र को विकसित या अवरोधित करते हैं, यह प्रेम कहानी नहीं, अतः प्रतिनायक भी नहीं। डा० वर्मा का 'रूप की बीमारी' प्रेम से संबंधित है, उसमें भी प्रतिनायक की कल्पना नहीं। नायक-प्रतिनायक की कल्पना से रहित एकांकियों में विविध गौण पात्रों के गमनागमन, और कुछ घटनाओं के घटित होने से एकांकी में गति आ जाती है। ये सभी गौण पात्र चार प्रकार का कार्य कर सकते हैं:—

१—उत्तेजक का

२—माध्यम का

३—सूचक का

४—प्रभाव व्यंजकता का

'उत्तेजक' से अभिप्राय उस पात्र से होगा जो कथा-सूत्र को उत्तेजित कर आगे बढ़ाता है। 'रूप की बीमारी' में डाक्टरों का संघर्ष पाकर 'रूप' को अपनी छिपी बात कहने को विवश होना पड़ा, जिससे नाटक अपने ध्येय की ओर बढ़ा।

'माध्यम' से अभिप्राय उस पात्र से होगा, जो प्रधान-पात्र के मनोगत विचारों को 'स्वगत' होने से रोकने के लिए काम में लाया जाता है। 'स्वगत' का उपयोग अस्वाभाविक माना जाता है, तब किसी पात्र की मित्र आदि के रूप में कल्पना करली जाती है, और उसके प्रश्न आदि द्वारा प्रधानपात्र

विचार करता चला जाता है। 'अधिकार-लिप्सा' के 'उपक्रम' में 'प्रयागसिंह' को इसी प्रकार 'अयोध्यासिंह' की मनोवस्था और मन्तव्य प्रकट करने के माध्यम की भाँति काम में लाया गया है।

'सूचक' वे पात्र कहे जायँगे, जो नाटकोपयोगी कोई सूचना देते हैं। "सुहागबिन्दी" में 'महाराज' और 'डाक्टर' दोनों ही 'सूचक' का काम करते हैं। महाराज तो कभी कभी माध्यम भी बन जाता है, पर डाक्टर तो 'सूचक' ही है जो 'प्रतिभा' की गंभीर बीमारी की सूचना देता है। और इस बात के लिए पात्रों को तय्यार करता है कि वे 'प्रतिभा' के स्थलान्तर को समझ सकें।

प्रभावव्यंजकता का कार्य संपादन करने वाले पात्र वे कहे जायँगे जो कहीं रहस्यमय संकेत, इंगित, अथवा भूमिका की भाँति उपस्थित होते हैं और नाटक के प्रभाव को कुछ का कुछ रूप दे देते हैं। 'असर' में 'व्यूटर' का उपयोग इसी रूप में हुआ है। 'स्ट्राइक' में वह 'नवयुवक' केवल 'माध्यम' ही नहीं, उसका उपयोग 'प्रभाव व्यंजकता' के लिए भी हुआ है।

इन पात्रों में से 'सूचक' 'स्मृति' को उपस्थित कर सकता है। उसके द्वारा पिछली बातों की याद दिलायी जा सकती है, जिससे एकांकी की कथा स्पष्ट हो सकती है।

इनके साथ नाटककार उपरोक्त चार कार्यों के लिए किसी पदार्थ अथवा प्राकृतिक व्यापार का भी उपयोग कर सकता है। 'उत्तेजक' के लिए कोई भी उद्दीपक सामग्री हो सकती है। कोई पदार्थ भी हो सकता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'सैनूना' में 'आम' और 'गुब्बारे' उत्तेजक और उद्घाटक ही हैं। इसी प्रकार '१८ जुलाई की शाम' में 'तार और मनीआर्डर' हैं। उसी में 'विहटा की दुर्घटना' पर लिखा गया 'संवाद' 'माध्यम' की भाँति काम में आया है। 'रेशमी टाई' की 'अंगूठी' भी माध्यम मानी जायगी। 'ऊसर' में 'मनोविश्लेषण-खेल' भी माध्यम है। यद्यपि वह 'सूचक' भी प्रतीत होता है। यथार्थ 'सूचक' और उद्घाटक है 'सुहागबिन्दी' का पत्र । प्रभावव्यंजकता के

लिए 'सुहागबिन्दी' में बिल्ली, ऊसर में 'कुत्ता' और 'रोमांचः रोमांच' में अन्त में जलता हुआ 'स्टोव'।

इस प्रकार इन उपादानों तथा ऐसे अन्य उपादानों का सहारा लेता हुआ एकांकी अपने अन्त पर पहुँचता है। यह तो गति के साधनों का उल्लेख हुआ।

आरंभ के बाद गति आ जाने पर वह उग्र ही होती जानी चाहिए। इस गति के दो साधन और हो सकते हैं—संघर्ष तथा विकास। प्रो॰ नगेन्द्रजी ने बताया है कि—

"एकांकी टेकनीक यों तो शत-रूपा है, परन्तु फिर भी स्थूल दृष्टि से हम उसके दो विभाजन कर सकते हैं : एक जिसमें विकास (Development) की प्रमुखता है, दूसरे में विन्यास या उद्घाटन की (Exposition) की। पहले में एक क्रमिक उतार-चढ़ाव के सहारे घटना अथवा चरित्र चरम परिणति तक पहुँचता है, और अन्त में जैसे एक गाँठ-सी खुल जाती है, दूसरे में विकास का कोई स्पष्ट क्रम नहीं होता, उसमें तो घटनाओं अथवा भाव विचारों की तहें खुलती चली जाती हैं और अन्त कहीं पर भी जाकर हो जाता है। पहला रूप, जहाँ हमारी जिज्ञासा को उभार कर तुष्ट कर देता है, दूसरे में परितोष का कोई निश्चित साधन नहीं होता। आपकी जिज्ञासा प्रायः बीच में उलझी रह जाती है, और यही उसकी सफलता है, पहले में वास्तुकौशल और दूसरे में मनोविश्लेषण की शक्ति होती है।"

प्रो॰ नगेन्द्र ने 'विकास' का अर्थ लिया है क्रमपूर्वक उतार-चढ़ाव के साथ चरमोत्कर्ष पर पहुँचना—यह 'विकास' एकांकी के आरम्भ होने से अन्त तक पहुँचने की क्रम-बद्ध सीढ़ियों अथवा अवस्थाओं से सम्बन्ध रखता है, और इस बात पर निर्भर करता है कि उसका अन्त पूर्वतः सुनिश्चित है—इसी आधार पर विन्यास से उसका भेद ठहरता है। 'विन्यास' का अन्त, अन्त जैसा नहीं विदित होता, वह story of design व्यवस्थात्मक कहानी की भाँति होता है। उसमें कथा सीढ़ियाँ-सी चढ़ती नहीं

प्रतीत होतीं, डा० रामकुमार ने एकांकी की टेकनीक का जो चित्र दिया है, उसमें उन्होंने आनेवाली गतियों को सीढ़ी का ही रूप दिया है, 'विन्यास' में ऐसा कुछ भी नहीं प्रतीत होता। डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी इसी प्रकार के हैं, इसके विपरीत भुवनेश्वरजी का 'ऊसर' लीजिए, उसमें कोई कथा और उसका मार्ग ही तैयार नहीं हो पाता। पर हम जिस 'विकास' का ऊपर उल्लेख कर आये हैं, वह 'संघर्ष' के विरोध में, नगेन्द्रजी के इस 'विकास' से भिन्न तत्व है। इस 'विकास' का नगेन्द्रजी के विकास की तरह नाटक के मार्ग-ग्रहण की क्रमिक स्थितियों से सम्बन्ध नहीं। इस 'विकास' का अर्थ है, उस अर्थ में 'एकांकी' की प्रगति आगे बढ़ना जिस अर्थ में एक बीज बढ़कर वृक्ष बनता है। वह चाहे ताड़का ही वृक्ष क्यों न हो। इस 'विकास' में किसी बाहरी संघर्ष को स्थान नहीं मिल पाता, वृक्ष जिस प्रकार विविध प्राकृतिक तत्वों से पोषक सामग्री ग्रहण करता हुआ बढता चला जाता है, नाटक-रस के परिपाक की तरह-स्मृति, पात्र, घटनाओं आदि के गमनागमन से पुष्ट और सबल होता हुआ आगे बढ़ता है, और अन्त में चाहे तो चरम पर गाँठ सा खुलकर रह जाय, चाहे अनायास 'विन्यास' की तरह रुक जाय। इस प्रकार के नाटक में कोई पात्र किसी के विरुद्ध खड़ा नहीं दिखायी पड़ता, 'संघर्ष' में 'संघर्ष' स्पष्ट दिखायी पड़ता है। 'संघर्ष' वाले एकांकियों में दो पात्र गुंथे हुए से चलते हैं; उनमें नाटकों की गति के लिए पारस्परिक आक्रमण और प्रत्याक्रमण ही बहुत होते हैं, उन्हीं के वैविध्य में से सूत्र अन्त तक पहुँच जाता है। पर 'विकास' वाले एकांकी को अपनी गति के लिये विविध आकस्मिक अथवा अन्यथा विधानों और उपादानों की आवश्यकता होती है। उपादान के उपरांत उपादानों का आते चले जाना 'विकास' वाले नाटक को गति देता है—'वह मरा क्यों' में सेठ गोविन्ददास जी ने कुंजड़ों की मंडी, मिठाई का बाजार, सिनेमा-घर के विविध दृश्यों को एक के बाद एक रखते हुए अन्त में कैण्टूनमेंट को भी लिया है—और उसकी दुर्दशा एक उद्घाटन हो जाने से बचा दी है। इसमें 'विकास' है। भुवनेश्वर के एकांकियों में बहुधा संघर्ष है। इस संघर्ष से अभिप्राय चारित्रिक द्वन्द्व से

नहीं, चारित्रिक द्वन्द्व किसी पात्र के अपने ही आन्तरिक संघर्ष को कहते हैं। उसके मन में ही एक तूफान उठ खड़ा होता है—मन का तूफान और द्वन्द्व तो 'विकास' के साथ भी चल सकता है। पर पात्रों का द्वन्द्व 'विकासावस्था' के नाटकों से भिन्न रूप में नाटक को गति देता है—यहाँ पात्रों के द्वन्द्व से ही 'संघर्ष' का अभिप्राय है। 'सुहागबिन्दी' में हमें अन्तर-संघर्ष प्रतिभाके अन्दर मिलता है, पर इसी कारण वह 'एकांकी' 'संघर्ष' का एकांकी नहीं, वह विकास का एकांकी है, क्योंकि काली बाबू का प्रतिद्वन्द्वी रूप एकांकी में कहीं स्फुट नहीं हो पाया। अतः कालीबाबू, सुहागबिन्दी आदि आकर 'एकांकी' के प्रधान-पात्र को अपने अन्त की ओर तीव्रता से अग्रसर होने में उत्तेजना देते हैं। एकांकी में गति आ जाती है। संघर्ष से एकांकी आदि से अन्त तक गति से युक्त हो जाता है, यदि उसमें फैलाव न आ जाय।

विकास-संघर्ष तथा विविध उपादानों से गति संग्रह करता हुआ एकांकी चरमोत्कर्ष तक बढ़ता है, और वहाँ एक दम समाप्त हो जाता है—अनायास आकस्मिक समाप्ति की तरह। इस समाप्ति के अवसर पर या तो किसी रहस्य का उद्घाटन होकर समस्त कथा का रंग ही एक दम कुछ हो जाता है—जैसे 'सुहागबिन्दी' में अधूरे लिखे पत्र से प्रतिभा के सम्बन्ध में सम्पूर्ण दृष्टि ही और हो जाती है, कहीं यह अन्त किसी घटना के फल के द्योतक की भांति उपस्थित होता है—सेठ गोविन्ददास के ईद और होली' में दंगे के कारण आग लगने के परिणाम स्वरूप खुदाबख्श और रतना का एक दूसरे को भाई बहिन समझने की भावना का दृश्य। कहीं यह अन्त किसी विशेष घटना के घट जाने से सारे उद्योग के रूप को या तो विशेष कष्ट या हास्यास्पद बनादेता है, और एकांकी वहीं रुक जाता है। 'लक्ष्मी का स्वागत' में बच्चे की मृत्यु और सगाई स्वीकार करना दोनों घटनायें एक साथ होती हैं। जिससे मृत्यु तो और भी अधिक कष्ट हो जाती है, और सगाई की स्वीकृति एक साथ उपहासास्पद। कहीं अन्त अन्त के जैसा कोई गौरव नहीं ग्रहण करता, कहीं विशेष गौरव धारण कर लेता है। कहीं क्लाइमैक्स पर पहुँचकर एकदम

समाप्त हो जाता है, और बुझे हुए दीपक की पश्चातवर्तिनी लाल धाप और धुंए की तरह रंगमंच पर एक प्रभाव-व्यंजना-युक्त किसी उपादान को छोड़ जाता है।

क्लाइमैक्स का स्थल यदि एकांकी में बन जाता है तो वह एकांकी रस-परिपाक की भांति स्वयं आकर्षक हो जाता है। जो कथा-सूत्र चलता है वह बढ़कर समाप्त होना चाहेगा, धीरे-धीरे उसमें एक तनाव आता चला जायगा, यहाँ तक कि वह तनाव उस स्थल पर जा पहुँचेगा, जिससे अधिक तनाव को सहना न तो उस एकांकी के कथा-सूत्र की सामर्थ्य में रहेगा, न उस एकांकी के उपभोक्ताओं में। इतनी ऊँचाई तक एकांकी को ले जाना, उसे उसके चरमोत्कर्ष तक पहुँचा देता है, यही क्लाइमैक्स है। कहानी-सूत्र के क्लाइमैक्स तक ऊंचा पहुँचते-पहुँचते भाव भी खिंचते चले जाते हैं, और एकांकी का समस्त विधान तब (relief) सुखद उन्मुक्ति चाहने लगता है। वह उन्मुक्ति सूत्र के झनझना के टूट जाने से मिले, जैसा ट्रेजडी में होता है तो भी ठीक है, और सूत्र का अपने अभीष्ट में पर्यवसान पा लेने से मिले, जैसा सुखान्त एकांकियों में होता है, तब भी ठीक है।

पर कला की दृष्टि से एकांकी की टेकनीक के लिए चरमोत्कर्ष (climax) कोई अनिवार्य तत्व नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा ने ही क्लाइमैक्स पर विशेष बल दिया है, पर ऐसे भी एकांकी हो सकते हैं जिनमें क्लाइमैक्स का नितान्त अभाव हो। कुछ लोगों का तो विचार था कि एकांकी में क्लाइमैक्स हो ही नहीं सकता। पर आज जितने एकांकी प्रकाशित हुए हैं उन्हें पढ़ कर इस सम्बन्ध में फिर भ्रान्ति नहीं रह सकती। प्रश्न यह नहीं कि क्लाइमैक्स एकांकी में आ ही नहीं सकता। अधिकांश हिन्दी के एकांकी क्लाइमैक्स से युक्त ही हैं। प्रश्न केवल यह है कि क्या क्लाइमैक्स अनिवार्य है? कलाकारों ने अपनी प्रतिभा से बिना क्लाइमैक्स वाले एकांकी भी प्रस्तुत किये हैं। अधिकांशतः जिन 'विन्यास' वाले एकांकियों की ओर प्रो० नगेन्द्र ने संकेत किया है, वह प्रायः बिना क्लाइमैक्स वाले ही एकांकी

हो जाते हैं। सेठ गोविन्ददासजी का 'स्पर्द्धा' लीजिए। वह ब्लाटिंग पर फैली हुई स्याही के समान प्रतीत होता है—क्लाइमैक्स विहीन।

टेक्नीक और रूप के उपरोक्त विवेचन के पश्चात् संभवतः यह बताने की आवश्यकता नहीं रहती कि एकांकी न तो कहानी है, न नाटक का संक्षिप्त रूप, न यही माना जा सकता है कि उसकी टेक्नीक ही नहीं, न कोई यही कहने का प्रमाद कर सकता है कि जो जरा संवाद लिख जानता है, वही एकांकी लिख सकता है। आज एकांकी की टेक्नीक पर ही एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है—ऊपर तो उसका यथार्थ संक्षिप्त दिग्दर्शन भी नहीं कराया जा सका। यह कहना भी हमें समुचित प्रतीत नहीं होता कि 'एकांकी का नाटक से ठीक वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से—

"विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिल कर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं।"

पहले तो कहानी का उपन्यास से ठीक क्या सम्बन्ध है यही बड़ी अनिश्चित बात है। Stories of design (व्यवस्थामय कहानियों) का फिर उपन्यास से क्या संबन्ध बैठेगा। फिर 'कथा' तो कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी सभी की भूमिका में व्याप्त है, तब उसके आधार पर उपन्यास कहानी तथा नाटक एकांकी में किसी सम्बन्ध स्थापना की कल्पना ही नहीं हो पाती। फिर विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिल कर ...' से क्या अभिप्राय? उपन्यास की घटनायें, कहानी की घटनाओं से स्वभाव गुण और रंग में एकदम भिन्न होती हैं। दोनों बिल्कुल पृथक प्रकार की रचनायें हैं। दोनों की भूमि कोई कथा है। बस इसे छोड़कर और ऐसा कौनसा तत्त्व है जो कहानी और उपन्यास में समान कहा जा सकता है? क्या कहानी उपन्यास के विस्तार के अभाव की प्रतिरूप है? जिन्होंने उपन्यास की कला के मूल तत्वों को गहराई से समझा है और कहानी के मूलतत्वों को भी, वे तो कम से कम इस मत से कभी सहमत नहीं हो सकते। उसी प्रकार एकांकी और नाटक में कथा और अभिनेयत्व को छोड़ कर अन्य कोई

साम्य नहीं मिलेगा। कथा का भी उपयोग दोनों में बिल्कुल भिन्न भिन्न रूप में होता है। नाटक में तो कथा का ही अभिनय करना प्रधान होता है, उस कथा को पात्रों के चरित्रों में अनुवाद भर कर दिया जाता है। पात्रत्व का महत्व नाटक में कथा के महत्व के समीकरण से स्थापित होता है। प्रत्येक चरित्र कथा के साथ एक विशेष सम्बन्ध स्थापित करता है। और अपने सम्बन्ध की उस विशेषता के अनुपात को वह आरम्भ से अन्त तक निभाये चला जाता है। पर इस सबका एकांकी में क्या कहीं भी पता चलता है। एकांकी के लिए कथा भूमि नहीं जैसे नाटक के लिए है, केवल केन्द्र (pivot) या धुरी है जिस पर एकांकीकार अपने एकांकी की वस्तु को घुमाता है। इस कथन को उपस्थित करते समय उन स्थूल-कथा-आश्रित एकांकियों को भुलाया नहीं जा सकता जो सेठ गोविन्ददास ने लिखे हैं, वे एकांकी कला के स्थूल उदाहरण हैं। इसीलिए उनके ऐतिहासिक नाटक तो सफल हुए हैं. एकांकी उतने सफल नहीं हुए। एकांकी में कथा सिमिट कर धुरी के बिन्दु जैसी बन जाती है और उसके ऊपर पात्रों के उभरे व्यक्तित्व की झाँकी से भी अधिक विषय की मार्मिकता प्रबल हो उठती है। एकांकी का अपना प्रथक अस्तित्व अब तो निर्विवाद मान्य है। 'हंस' मई १९३८ से एकांकियों के महत्व मूल्य और आवश्यकता के सम्बन्ध में विवाद हुआ था, आज उस विवाद के प्रत्येक पहलू का उत्तर एकांकियों ने विविध रचनाओं से अपनी कला के बल स्वयं ही दे दिया है।

टेकनीक (तन्त्र) के साथ ही एकांकी में हमें उसके संविधान, कथोपकथन (संवाद), उसके रचनात्मक आधारतत्व तथा रंग संकेतों पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है।

संविधान से अभिप्राय उस कथामय विन्यास से है जो एकांकी का ताना-बाना है। इसको लक्ष्य में रख कर हम यह जानना चाहते हैं कि एकांकी की वस्तु का संयोजन उसकी टेकनीक के अनुकूल हुआ है। संविधान में यदि अधिक सूत्र आ गये तो एकांकी की टेकनीक उसे सम्भाल नहीं सकेगी और

एकांकी क्षुब्ध हो जायगा। संविधान के सूत्रों का पारस्परिक ग्रंथन भी इस ढंग का होना चाहिए कि न तो वह गति का अवरोध करे और न टेकनीक के लिए जटिल हो।

कथोपकथन एकांकी का प्राण है। कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाक्-वैदग्ध्ययुक्त चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने वाला तथा एकांकी के सूत्र को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। बहुधा एकांकी कथोपकथनों में होकर समस्त गति और शक्ति संचित करता हुआ कथोपकथन द्वारा ही 'चरम' (Climax) पर पहुँचता है। अथवा कथोपकथन या सम्भाषण में ही वह अपनी परिसमाप्ति पा लेता है।

कथोपकथनों में स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है। स्वगत कथन आज एक दम अवाञ्छनीय माने जाते हैं, यद्यपि 'स्वगत हीन' अवस्था, जिसका अर्थ है, या तो वह मौन जो रंगमंच पर बहुत कम सह्य हो सकता है, या जिस मौन का यथार्थ अभिप्राय पात्र के अतिरिक्त कोई दूसरा जान ही नही सकता। ऐसी अवस्था में वातों में लगे रहना भी अस्वाभाविकता है। मनुष्य क्या सदा बात ही करता रहता है, क्या कभी स्वतन्त्र, कुछ क्षण अपने से ही घिरा हुआ कुछ विचार नहीं करता? इस अस्वाभाविकता को भी बचाने के लिए कभी-कभी जड़ पदार्थों या पशु-पक्षियों को माध्यम बना लिया जाता है। फिर भी स्वागत के लिए आज के एकांकियों में अधिक गुञ्जायश नहीं।

कथोपकथन में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि कहीं वह वाद-विवाद का रूप न ग्रहण कर ले। वाद-विवाद के भी स्थल एकांकियों में हो सकते हैं, जैसे सबसे बड़ा आदमी; इसमें भगवतीचरण वर्मा ने कुशलता-पूर्वक 'वाद-विवाद' को संविधान का एक अङ्ग बना कर नाटक को प्रगति दी है। ऐसे स्थल पर वाद-विवाद ठीक ही है, पर यदि ये वाद-विवाद ऐसे उपयुक्त अवसरों पर काम में नही लाये जाते तो एकांकी प्राण हीन हो जायगा।

एक आशंका यह भी रहती है कि कहीं कथोपकथनों में कोई पात्र उपदेशक का रूप न ग्रहण करले और व्याख्यान झाड़ने लगे—जिसमें वक्तव्य

लम्बे हो जायँ। ऐसे उपदेशों या लम्बे कथनों के बीच में नाटककार एकरसता को तोड़ने के लिए भले ही किसी दूसरे श्रोता पात्र के द्वारा प्रश्न लिखे दे—पर वह एकांकी में ऐसे लम्बे व्याख्यानों से उत्पन्न होनेवाली शिथिलता को दूर नहीं कर सकते।

मितभाषण के साथ उनमें एक तड़प और मर्मस्पर्शिता होनी चाहिए। प्रत्येक कथन छोटा होते हुए भी अपना निजी मूल्य रखता हो, और स्वयं अपने में ही अत्यन्त रोचक हो। चुस्त होने ही चाहिए। अवसाद पूर्ण भी न हों। चरित्र के आन्तरिक प्राणों का उनमें स्पंदन हो।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं wit वाक्वैदग्ध्य के चटखारों में ही न विरम जायँ।

कथोपकथनों का संविधान से तो इतना ही सम्बन्ध है कि संविधान उसे वे पात्र देता है जिनकी वाणी कथोपकथन बनती है, पर एकांकी के आधारात्मक रचना-तत्वों से उसका बहुत गहरा सम्बन्ध है, कथनोपकथनों में संकेत होनेवाली आत्मा यही आधारात्मक रचना-तत्व हैं। आधारात्मक रचना-तत्व वे तत्व हैं जो एकांकी को एकांकी के लिए प्रेरित करते हैं, उसके टेकनीक का अपना रूप देने के लिये उत्साहित करते हैं, संविधान की काट-छाँट के लिए प्रेरित करते हैं, कथनोपकथनों में स्पन्दन लाते हैं। (Subjective) व्यक्ति परक दृष्टि बिन्दु से देखा जाय तो एकांकीकार की मूल मनोवस्था जो सम्पूर्ण एकांकी में व्याप्त है और उसके समस्त तत्वों को एक बनाये हुए है आधारात्मक रचना-तत्व है। एकांकीकार की सम्पूर्ण अनुभूति, उसकी रस-प्रवणता, उसकी ज्ञान-विज्ञान धारा, उसका संप्रदाय उसका अभिप्राय, उसका सन्देश, उसका जीवन दर्शन—जो भी हो, एकांकी का आधार रचना-तत्व है। एकांकी में देखने की बात यह होती है कि एकांकी की टेकनीक, संविधान, कथोपकथन सब में ये तत्व संकेत हों, और सब इसके यथार्थतः अनुकूल हों। यह तत्व सदा ही ध्वनित रहना चाहिए अधिक स्फुट हो जाने से एकांकी अत्यन्त स्थूल हो जाता है।

और अब रंग-संकेतों को लीजिए—

रंग-संकेत थोड़े-बहुत प्रत्येक एकांकी में मिलते हैं, ये अत्यन्त आवश्यक हैं। बिना इनके एक तो नाटकत्व का रूप प्रतिष्ठित नहीं होता, दूसरे ये नाटक को दर्शनीय बनाने और उनके प्रभाव को उद्दीप्त करने के लिए भी आवश्यक हैं। ये संकेत रंग-भूमि की व्यवस्था के लिए तथा अभिनय की सहायता के लिए और पात्रों की रूप-कल्पना के लिए होते हैं। ये तीन ही 'रंग-संकेत' के कार्य हैं।

रंग-भूमि की व्यवस्था में इन संकेतों द्वारा एक तो दृश्य का चित्र उपस्थित किया जाता है: कैसा मकान है, कितनी खिड़कियाँ हैं, उनमें से क्या दिखायी दे रहा है, दरवाजा किधर है, और स्टेज पर कितनी कुर्सियाँ, कितनी मेज और क्या-क्या है। आजकल नयी प्रणाली में रंग-भूमि की व्यवस्था के सम्बन्ध में बड़ी लम्बी योजना दी जाती है। इसमें ही एकांकी की घटना के आरम्भ होने से पूर्व के इतिहास का भी उल्लेख इसलिए कर दिया जाता है कि तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान अभिनेताओं और पाठकों को हो सके। सेठ गोविन्ददास के 'धोखेबाज' में आरम्भ का यह संकेत दो पृष्ठों में है। कोई-कोई एकांकीकार स्टेज के पूरे प्रबन्ध का एक चित्र—मान-चित्र भी दे देते हैं। जैसे डा० रामकुमार वर्मा जी ने अपने 'परीक्षा' एकांकी में दिया है। पर सेठजी के वर्णन विस्तृत होते हुए भी उतने प्रभाव-व्यंजक नहीं होते। रंग-भूमि-व्यवस्था के संकेतों से कहीं-कहीं नाटककार एकांकी की वस्तु का बड़े ढंग से प्रभावशाली स्पर्श प्रस्तुत कर देते हैं—

'शैतान' में दूसरे दृश्य के आरम्भ का यह 'संकेत' लीजिये—

'फुलवारी में, जो रात्रि के वक्षस्थल से चिपट अर्द्ध-निद्रित, भय से या आशंका से काँप रही है, रात्रि के श्रमकन के समान तारे अपने ही भार से व्यथित हैं, एक ओर राजा हरदेवसिंह उनकी धर्मपत्नी और राजेन्द्र प्रेतों के समान दिखलाई देते हैं। राजासाहब एक पुरानी कामदार कुर्सी पर बैठे हैं। राजेन्द्र थोड़ी दूर पर गुलाब की पंखड़ियों को अपने दाँतों से नोंच-नोंच कर

पृथ्वी पर फैलता है, उसके पीछे ही एक खाली कुर्सी है, जिसके ठीक दाहिनी ओर एक बेंच है। जिस पर राजासाहब की धर्मपत्नी अधलेटी हैं।"

इसमें लेखक ने रंगमंच की व्यवस्था के साथ उससे प्रकट होने वाले प्रभाव और रंग का भी उल्लेख किया है, अतः संकेत जितना किया गया है उससे अधिक प्रकट करता है।

इन रंग-संकेतों के द्वारा ही इस बात का पता चलता है कि एकांकीकार अपने समस्त अभिनय के लिए रंगमंच की कैसी कल्पना करता है और उसके द्वारा अपने भावों के स्थूल रूप के अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म छाया-प्रकाश भी प्रकट करना जानता है या नहीं।

रंग-संकेतों का दूसरा उपयोग अभिनय में सहायता प्रदान करने के निमित्त होता है। कब कौनसा पात्र किस प्रकार की मुद्रा धारण करेगा यह बात यद्यपि पद-पद पर नहीं बतायी जा सकती और विविध मुद्राओं की कल्पना वस्तुतः अभिनेता और दिग्दर्शक पर अधिकांशतः निर्भर करती है, किन्तु कहीं-कहीं अपने एकांकी के अनुरूप जो पात्र के अभिनय की कल्पना एकांकीकार के मन में उदय होती है वह उसका भी उल्लेख कर देता है। कहीं-कहीं तो एकांकीकार को अनिवार्यतः ऐसा करना पड़ता है, अन्यथा जो effect रूप वह प्रस्तुत करना चाहता है, वह ठीक-ठीक प्रकट नहीं हो सकता। ऐसे उल्लेख तो साधारण हैं—घबड़ाकर, त्रस्त-सा, क्रुद्धमुद्रा में, मेज पर हाथ मारता हुआ, मुस्कराकर आदि। भुवनेश्वर ने 'रोमांसः रोमांच' में एक स्थान पर जो संकेत दिये हैं वह साधारण नहीं—

(वह व्यस्त-सा उठना चाहता है और काँच का गिलास झनझना कर फर्श पर चकनाचूर हो जाता है, कमरे का वातावरण सिहर उठता है। भीतर से स्त्री विस्मय, भय और कातरता का एक विचित्र संमिश्रण लेकर आती है, और किंचित मुस्कराकर अपने मैले आँचल से कांच बटोरना प्रारम्भ करती है)

यह सब संकेत नाटक के पात्रों के हृदय के अन्तरंग को झंकृत कर नाटक के तात्पर्य में कितने सहायक हो रहे हैं? इसी प्रकार उत्तेजना में ओठ चबाना

आदि मुद्रायें तो कल्पित की जा सकती हैं पर एकांकीकार विशेष स्थान पर उस भाव को जिस विशेष अभिनय के द्वारा प्रकट करना चाहता है, उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ता है—जैसे उसी 'रोमांस-रोमांच' में एक स्थान पर—

(स्त्री कुछ कहना चाहती है और इस प्रयत्न में हिंसक सी प्रतीत होती है, अमरनाथ उत्तेजना में हाथ की उँगलियाँ वेग से चिटकाता है)—उँगलियों के चिटकाने में जो चिटकने की ध्वनि है वह उस अवसादमय उत्तेजित वातावरण को अधिक गहन बनायेगी।

कुछ संकेत केवल प्रभाव-व्यंजन के लिये होते हैं—जैसे स्ट्राइक में—

"बाहर बरामदे से दो या तीन मरतबा आवाज आती है, 'चौकीदार'! फिर मोटरों के स्टार्ट होने की और खामोशी। स्टेज पर अँधेरा हो जाता है, पर बीच में दो या तीन मरतबे रोशनी होती है और एक किसानों का बुझा-सा चेहरा लिये चौकीदार मेज झाड़ता है और जले हुए सिगरेट बीनता हुआ दिखाई देता है।"

इस सबके बाद—एकांकियों के लिये मिस्टर टालबाट ने दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, एक यह कि एकांकी बुरा नहीं हो सकता यदि चरित्र-चित्रण अच्छा है। दूसरे यह कि यदि एकांकी में हास्य का अभाव है तो वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। हास्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये श्री० डबल्यू० मेरियट ने जो लिखा है वह भी उल्लेखनीय है "वक्र रेखाओं की वक्रता से ऋजु रेखायें विचिलित नहीं होतीं, और हास्य, जो एक प्रकार की दार्शनिक (Sanity) सावधानता है, एक उन्मादग्रस्त नाटक में ही नहीं वरन् इस उन्मत्त संसार में भी अनिवार्य है।"*

---

* Straight lines do not detract from the crookedness of crooked lines, and humour which is a sort of philosophic sanity, is indespensable not only in a crazy play, but in a crazy world".

एकांकी नाटकों का वर्गीकरण—हिन्दी के एकांकियों का वर्गीकरण किस कसौटी पर किया जाय?—सब से पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है। यह वर्गीकरण एकांकियों के प्रकार-भेद के आधार पर हो सकता है। विषय की दृष्टि से अलग वर्ग बन सकते हैं। टेकनीक के आधार पर भी यह काम हो सकता है। नाटक में प्रतिपादित सिद्धान्तों के वाद (schools) को भी आधार बनाया जा सकता है। हमें सभी दृष्टियों से वर्गीकरण कर देखना चाहिए।

पहले 'प्रकार' लेना ही ठीक होगा।

पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर प्रो० अमरनाथ ने निम्नलिखित प्रकार बताये हैं:—

"१ समस्यामूलक एकांकी—जिसका निर्माण किसी समस्या को लेकर लेखक करता है। इसे Problem play भी कहते हैं—उदाहरण Bishop's Candlesticks

२—खुले स्थान पर खेले जाने वाले एकांकी जिन्हें Fantasy भी कहते हैं। उदाहरण : Harold Brighouse का How The Wheather Is Made.

३—प्रहसन–जिसमें लेखक का ध्येय स्वयं हँसना तथा दूसरों को हँसाना होता है।—जान ब्रेंडन का Rory Aforesaid.

४—ऐसे एकांकी जिन्हें हम Serious कह सकते हैं और जो किसी साहित्य की उत्तम से उत्तम बड़ी रचना का मुकाबला कर सकते हैं। Maurice Materlinck का 'Intruder'

५—ऐसे एकांकी जिनमें लेखक का ध्येय किसी घटना किसी देशके रीति रिवाज आदि पर कटाक्ष करना होता है। Lord Dunsany के एकांकी।

६—Melodramatic एकाकी। किसी के दुख में दुखी होने के बदले जब हम हँसते हैं, तब घटना Melodramatic हो जाती है।

जिसके ठीक विपरीत Pathos है। Herbert Farjeon का Friends.

७—ऐसे एकांकी जिनका अन्त आनन्दमय है परन्तु जिनका विषय गरीब मजदूरों आदि का जीवन है। Gertrude Jennings का Between the Soub and the Savoury" इसी प्रकार की Low Comedy है।

८—ऐतिहासिक एकांकी। John Drinkwater का × = 0

९—व्यंगयात्मक एकांकी—एक दर्द भरा व्यंग्य लिये जो हो। Stanly Houghton का The Master of the House

१०—Horlequinade एकांकी। इस प्रकार के एकांकी का विचित्र इतिहास है। बहुत समय पहले इनका प्रचार था मुख्य मुख्य घटनायें केवल लिखी जाती हैं और पात्र अभिनीति होते समय कथोपकथन द्वारा इसको सुसम्बद्ध रूप देते हैं। इसके पात्र ऐक ही प्रकार की बाह्य-भूषा में हमारे सन्मुख आते हैं। हमारे यहाँ गाँवो में आज भी होने वाले स्वाग आदि के समान ये रचनायें थी। इन्हे कुछ समालोचक Fantasy भी कहते हैं। Oliphant Down का एकांकी The Matter of Dreams प्रेस की असावधानी से प्रो० अमरनाथ गुप्त की पुस्तक में Oliphant Down की पुस्तक 'The Maker of Dreams' का नाम 'The Matter of Dreams' छप गया है।

११—Cockney एकांकी। मजदूरों की विकृत भाषामें ही लिखे गये एकांकी को कहते हैं। व्याकरण के नियमों से इनकी भाषा प्रायः मुक्त रहती है। Harold Chapin का The Dumb and the Blind.

१२—सामाजिक नाटक

प्रोफेसर गुप्त ने अपने निबन्ध में संख्या १३ दी है, और १० वीं संख्या के बाद १२ दी गई है। ऐसा विदित होता है, यहाँ कोई प्रमाद हुआ

है। वह इससे और स्पष्ट हो जाता है कि (Harlequinade) ऑनिफॅट डाउन का 'दी मेकर आफ ड्रीम्स Harlequinade प्रकार का उदाहरण नहीं हो सकता। वह तो स्वप्न नाटक की कोटि का है। जिनमें अलौकिक वातावरण और पात्रों का समावेश है वे भी Fantasy कहे जाते हैं। यह 'Spectacle' अथवा 'Open Air play' खुले मैदान के नाटक से भिन्न है। कोई कोई इसे भी Fantasy कहते हैं। इस प्रकार प्रो० गुप्त की प्रकार सम्बन्धी संख्या १३ ठीक रहती है। पर यह वर्गीकरण विशेष वैज्ञानिक नहीं, और इन्हें एकांकियों का प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। प्रकारगत विभेद तो २, ६, १०, ११ में ही दिखाई पड़ता है। प्रोफेसर नगेन्द्र ने भी कुछ प्रकारों का उल्लेख किया है :

१—सुनिश्चित टेक्नीक वाला एकांकी—जिसमें संकलनत्रय हो तो श्रेष्ठ नहीं तो प्रभाव और वस्तु का ऐक्य अनिवार्य, स्थान और काल की एकता का निर्वाह भले ही न हो।

२—संवाद या संभाषण (Dialogue)—यूरोप के साक्रेटीज के संवाद। हिन्दी में पं० हरिशंकर शर्मा के 'चिड़ियाघर' के हास्य व्यंग्यमय संवाद।

३—मोनोड्रामा—स्वगत का ही परिवर्धित रूप। उदाहरण—सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ' में नगेन्द्र गिनती करते समय इसे 'संवाद' के ही अन्तर्गत मानते हैं।

४—फीचर—यह अत्यन्त आधुनिक प्रयोग रेडियो का आविष्कार है। इसका स्वरूप प्रायः सूचनात्मक होता है—इसमें किसी विषय विशेष पर प्रकाश डालने के लिए उससे सम्बद्ध बातों का नाट्य-सा किया जाता है। जैसे 'प्रेमचन्द की दुनियां, दिल्ली की दीवाली। स्वयं प्रो० नगेन्द्र ने बिहारी आदि पर कुछ अच्छे फीचर लिखे हैं।

५—फैंटेसी—यह एकांकी का अत्यन्त रोमांटिक रूप है। इसके लिये यह अनिवार्य है कि लेखक का दृष्टिकोण एकान्त वस्तुगत और स्वच्छन्द

हो। इसमें कल्पना का मुक्त विहार होना चाहिये। किसी प्रकार का मनोगत विधान उसे सह्य नहीं। डा० रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु'।

६—झांकी को दरअसल एकांकी का शुद्धरूप समझना चाहिए। इसमें केवल एक दृश्य होता है, अतः स्थान और समय के ऐक्य का पूरा पूरा निर्वाह हो जाता है।

७—रेडियोप्ले का एकांकी से कोई मौलिक भेद नहीं।

प्रोफेसर नगेन्द्रजी ने अन्तिम तीन को एकांकी का स्वरूप अथवा विभेद माना है और ऊपर के तीन को एकांकी का सहयोगी। सबसे प्रथम तो एकांकी की साधारण परिभाषा दी गई है, वह कोई भेद नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रो० नगेन्द्र का यह प्रकार-विभाजन बहुत कुछ वैज्ञानिक ढंग पर है। 'प्रकार' का अभिप्राय है स्वभाव और टेकनीक, रूप और रंग। जो एकांकी एक दूसरे से स्वभाव और टेकनीक तथा रूप और रंग में भिन्न हैं वे 'प्रकार' में भिन्न माने जायँगे। इस दृष्टि से प्रो० नगेन्द्र के वर्गीकरण में प्रो० अमरनाथ गुप्त के वर्गीकरण में से Horlequinade एकांकी तथा Cockney एकांकी और जोड़े जा सकते हैं। Horlequinade स्वाँग जैसे एकांकियों का लिखित रूप नहीं मिल सकता, अतः साहित्य की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं। Cockney एकांकी के अर्थ यदि केवल मजदूरों की विकृतभाषा के प्रयोग से बने एकांकी ही न माना जाय वरन् ऐसा एकांकी माना जाय जो साधारण बोलचाल की मुक्त भाषा में लिखा गया हो, तो कुछ ऐसे नाटक हिन्दी में मिल सकेंगे जिनमें प्रायः गँवारू बोली का उपयोग हुआ है। पर इस कोटि में राहुल बाबा के भोजपुरी (छपरा-बलिया) की भाखा में लिखे हुए एकांकी तथा सूर्यकरण पारीक का 'प्रतिज्ञा-पूर्ति' जो राजस्थानी में लिखा गया है नहीं आ सकेंगे। ये नाटक साधारण बोलचाल की बोली में मुक्त भाषा के रूप में नहीं लिखे गये इनके पीछे इनके भाषा होने की चेतना विद्यमान है, अतः भाषा का रूप सुनिश्चित है, वह भले ही साहित्यिक हिन्दी न हो।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी हिन्दी एकांकी के अपने प्रकार हैं जिनका उल्लेख होना चाहिए, ये प्रकार भले ही अभी अच्छी प्रकार प्राप्त नहीं हुए हों।

इनमें से एक का नाम 'मालवत् एकांकी' रखा जा सकता है। एक उद्देश्य की ओर ले जाने वाले, पर एक दूसरे से कथा-रूप में असम्बद्ध विविध दृश्य किसी एक सूत्र द्वारा संयुक्त कर एकांकी बना डाले गये हों। उदाहरण के लिए 'पहाड़ी' का 'युग युग द्वारा शक्ति की पूजा' को लीजिए—इसमें एकांकीकार ने प्राचीनकाल से अब तक के विविध युगों की विविध शक्तियों और उनकी पूजा का निदर्शन कराया है, अजेय शक्ति, वरुण देवता, मदन देवता, भगवान्, शक्ति, महाराज, विद्युत, डाक्टर आदि, और इनके पृथक-पृथक दृश्य एक 'नैरेटर' व्याख्याता की व्याख्याओं द्वारा एक में जोड़ दिए गये हैं। 'स्वतन्त्रता के अर्थ' में स्वतन्त्रता के लिए जापानियों ने, हालैंडवालों ने जो त्याग किए उनके अलग-अलग दृश्य आते हैं, उनके साथ ही भारत के स्वतन्त्रता के उद्योग काल में युवकों की दशा क्या हो रही है उसके भी दृश्य आते हैं, और इस प्रकार भारतीयों की प्रवृत्ति तथा दूसरे देशवासियों की प्रवृत्ति का अन्तर बता कर 'स्वतन्त्रता का अर्थ' समझाने की चेष्टा की गयी है, और इन दृश्यों को एक गुरु और शिष्य के वार्तालाप के दृष्टान्त दृश्यों की भांति रखकर एक सूत्र में पिरो दिया गया है।

एक प्रकार उन एकांकियों को अलग माना जाना चाहिए जिनमें मूल कथानक के प्रधान पात्रों के अतिरिक्त एक गौण पात्र को उन प्रधान-के पात्रों अपनी कथा को प्रकट करने या सुलझाने का केन्द्र मान लिया गया हो। 'गौण-प्रधान एकांकी' इसका नाम दिया जा सकता है। प्रो० आनन्द का 'डाक्टर जीवन' है जैसे। मुख्य कहानी अंजलि और मनोज के प्रेम की है। डाक्टर का उनकी प्रेम कथा से कुछ लेना देना नहीं। वह मूल-प्रेम कथा में कोई पात्र नहीं। पर नाटककार ने 'डाक्टर जीवन' को मध्यस्थ बना दिया है;

जिसके द्वारा दोनों की कथा सम्पूर्ण हो जाती है। डा० रामकुमार का 'उत्सर्ग' इस प्रकार के नाटकों में श्रेष्ठ बन पड़ा है।

'अलौकिक एकांकियों' का एक अलग वर्ग मानना होगा। ये fantasy 'कल्पनालोकीय' एकांकी नहीं कहे जा सकते। इनके पात्र इस भूमि के नहीं होते, दूसरे लोक के होते हैं, और वे किन्हीं भूतलीय समस्याओं पर विचार करते होते हैं। जयनाथ नलिन का 'परमात्मा का पश्चाताप' इसी कोटि में आयेगा। डा० रामकुमार वर्मा का 'अन्धकार' भी इसी स्वभाव का है।

'प्रकार' की दृष्टि से 'एकांकी-संक्षिप्ति' अलग कोटि के एकांकी माने जाने चाहिए। किसी बड़े या प्राचीन नाटक को 'एकांकी' में परिणत कर देना, यह एक अलग प्रकार का कौशल है, और साधारण एकांकी के अन्तर्गत अपनी स्वभाव-भिन्नता के कारण अलग 'प्रकार' माने जाने का अधिकारी है। इस ओर श्री प्रभाकर माचवे ने कुछ उद्योग किया है। सरस्वती अक्टूबर १६४२ में प्रकाशित उनका 'उत्तर रामचरित' इसी प्रकार का 'एकांकी' है। यह भवभूति के 'उत्तर रामचरित' की 'एकांकी संक्षिप्ति' है।

सेठ गोविन्ददासजी के 'उपक्रम' और 'उपसंहार' वाले एकांकी भी रूप-रंग में भिन्नता रखने के कारण एक अलग प्रकार बनाते हैं। इन्हें 'उपसर्गीय एकांकी' कहा जा सकता है।

यह तो 'प्रकार' की दृष्टि से वर्गीकरण हुआ। इसी के अन्तर्गत एक दृश्य वाले तथा विविध दृश्य वाले एकांकी भी आते है।

'प्रकार' के उपरान्त विषय' के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है। 'विषय' के आधार पर एकांकी 'सामाजिक' हो सकते हैं; ऐतिहासिक हो सकते हैं; राजनीतिक, चारित्रिक, और तथ्य प्रदर्शक हो सकते हैं।

'सामाजिक' एकांकी नाटकों में समाज-सम्बन्धी अवस्था या व्यवस्था का दिग्दर्शन कराया जाता है अथवा समस्या प्रस्तुत की जाती है। इन सामाजिक एकांकियों में वे सभी आयेंगे जिनमें 'विवाह' संस्था पर विचार किया है,

अथवा फ्रायड' के अनुसार या अन्य किसी रूप में यौन (sex) प्रश्नों को अपना विषय बनाया है। पाश्चात्य सभ्यता और प्राच्य सभ्यता के भावों की जिसमें विवेचना हो, वे नाटक सामाजिक होंगे। हिन्दी में सामाजिक नाटकों की प्रचुरता है।

'ऐतिहासिक' एकांकियों में इतिहास का कोई वृत्त लिया जाता है, और शुद्ध ऐतिहासिक एकांकी वह माना जाता है जिसमें नाटककार ने इतिहास का अध्ययन कर तत्कालीन वातावरण प्रस्तुत कर देने का यत्न किया हो। जिसमे नाटककार ने अपने को बिल्कुल निरपेक्ष रखा हो, और इतिहास के पात्रों को ही स्वयं स्वाभाविक अभिनय करने दिया हो। ऐसे 'एकांकी' हमें उस काल का सजीव और सच्चा चित्र देने की चेष्टा करते हैं। ऐतिहासिक नाटकों का एक प्रकार उनकी व्याख्या सम्बन्धी भी हो सकता है। इतिहास की एक घटना है, नाटककार उसमें कोई और अर्थ पढ़ता है, जो पूर्णतः उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रमाणित नहीं। उस अर्थ को वह अपने नाटक के द्वारा ऐतिहासिक पात्रों से प्रकट करा देता है।

राजनीतिक नाटकों का विषय 'राजनीति' होती है।

चारित्रिक नाटकों से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनमें किसी व्यक्ति के चरित्र विशेष की झाँकी दिखायी जाती है और उसी चरित्र की सुन्दरता या असुन्दरता की अनुभूति को प्रकट करने के लिए जैसे नाटककार ने नाटक लिखा है। सेठ गोविन्ददास का 'अधिकार लिप्सा', 'धोखेबाज', डा० रामकुमार वर्मा का 'उत्कर्ष' 'रेशमी टाई' आदि ऐसे ही एकांकी हैं। 'चारित्रिक' एकांकी चरित्र-प्रधान एकांकियों से भिन्न हैं। जैसे बड़े नाटक में वैसे ही एकांकियों में भी ऐसे नाटक हो सकते हैं जो चरित्र-प्रधान हों या घटना-प्रधान हों। जिन एकांकियों की प्रवृत्ति पात्र की पात्रता की अपेक्षा, घटना के तारतम्य की ओर विशेष हो जाय, वह घटना-प्रधान एकांकी कहा जायगा—ऐसे एकांकी हिन्दी में कितने ही लिखे गये हैं। 'सब से बड़ा आदमी' में नाटककार का समग्र विषय घटना पर निर्भर करने

वाला, वह कौशल—हाथ की सफाई है जिसने दोनन के पाठकों को अनजाने ही उस समय कंगाल बना दिया, उसके साथ सिद्धान्त की ऊँची बातें भले ही गुँथी रहें।

'तथ्य-प्रदर्शक' उन नाटकों को कहेंगे जिनमें लेखक संदेश देने या निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति से दूर होकर जो देखता है, जो समझता है उसे यथार्थतः प्रस्तुत करदे। एक यथार्थ वस्तु-स्थिति की जो अनुभूति हो उसका प्रदर्शन—बस। सेठ गोविन्ददास का 'मानव-मन' इसी वर्ग का नाटक है।

शैलियों की दृष्टि से भी एकांकी के कई भेद हो सकते हैं—

एक तो सीधी-सादी शैली के नाटक, जिसमें जितना कहना है, उतना ही प्रकट होता है, शब्द और अर्थ बहुत स्थूल।

दूसरे व्यंग्यात्मक एकांकी, जिनमें जो कहा गया है उससे विशेष ध्वनित हो, जिसमें व्यंग्य हो, कटाक्ष हो, वाक्-वैदग्ध्य हो, जैसे भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक'।

शैली में, हास्यपूर्ण नाटक—प्रहसन भी प्रमुख स्थान रखते हैं। सेठ गोविन्ददासजी का 'वह मरा क्यों?' भगवतीचरण वर्मा का 'सब से बड़ा आदमी' इसके उदाहरण हो सकते हैं।

गंभीर शैली में लिखे हुए नाटक, हलकी शैली में लिखे हुओं से भिन्न स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं।

बौद्धिक और काव्यात्मक एकांकियों का भी अन्तर करना कठिन नहीं।

समस्यामूलक नाटक (Problem play) अपना अलग वर्ग बनाते प्रतीत होते हैं, यद्यपि जिन समस्याओं को वे प्रस्तुत करते हैं वे बहुधा सामाजिक या राजनीतिक या यौन होती हैं। फिर भी साधारण नाटकों से भिन्न इनको इस नाम से अभिहित किया जाता है।

दुःखान्त और सुखान्त भी दो भेद माने जाते हैं, जो बड़े नाटकों में भी मिलते हैं।

मूल-वृत्ति के आधार पर एकांकियों के भेद—

१—आलोचक एकांकी—एकांकियों का उपयोग सभी प्रकार के कलाकार कर रहे हैं। वे कलाकार भी एकांकी लिख रहे हैं जो अपने को जीवन के आलोचक समझते हैं। वे घर में, मन में, समाज में भीतर प्रवेश कर उसकी कमजोरियों को उभार कर रख देते हैं। वे न तो कोई समस्या प्रस्तुत करना चाहते हैं, न कोई आदर्श देना चाहते हैं। यथार्थ का चित्र भी वे नहीं दे रहे। वे आलोचना कर रहे हैं। जो है उसके पर्त को उधेड़ रहे हैं और खोल कर दिखा रहे हैं कि वहाँ क्या है। इनके कथानक काल्पनिक हैं पर यथार्थ जगत को लिये हुये हैं। इनके पात्रों में उद्वेग है, तीव्रता है, व्यंग्य और परिहास है, कटुता है।

विवेकवान—इन्हीं आलोचक एकांकियों में से एक वे हैं जो विवेकवान हैं। पात्र विवेकशील हैं, आलोचना-प्रत्यालोचना, बुद्धि-वैभव का इनमें उपयोग किया गया है। एक पात्र किसी सामाजिक-व्यवस्था, रीति-रिवाज या प्रथा के समक्ष खड़ा है। या किसी घरेलू घटना से झगड़ रहा है, या इनके प्रतीक पात्रों के आचारों को काट रहा है।

भावुक—इन्हीं में वे एकांकी हैं जो जीवन की आलोचना बुद्धि-विकास से नहीं करते। ये घटनाओं और परिस्थितियों को किसी आचार या प्रथा की कसौटी की भाँति खड़ा कर देते हैं, वहाँ वह आचार या प्रथा बिना तर्क या विवाद या शाब्दिक-आलोचना के, विश्लेषित होकर स्वयं लांछित-आलोचित सी हो जाती है। भावुकता का अंश इसमें आ जाता है। उपेन्द्रनाथ में ये दोनों प्रकार के एकांकी मिल जाते हैं। जैनेन्द्रजी के एकांकी 'टकराहट' भावुक से विवेचक विशेष हैं।

२—समस्या एकांकी—आलोचना करना मात्र ही कलाकार का धर्म नहीं। वह आलोचना करता हुआ उस समस्त व्यापार में निहित समस्या को खोल कर रख देता है। जो स्थिति है वह क्यों है? क्या उसका उत्तर दीखने वाली स्थितियों, घटनाओं, व्यापारों और कार्यकारण परम्पराओं में है? वह

एक पर्दा सा फाड़कर भीतर झाँकने के लिए कहता है और पूछता है—बोलो यह क्या है? यह यथार्थ है या वह जो पहले था। यह जीवन की आलोचना नहीं करता, जीवन के फंडामेंटलस—मौलिक तत्वों को और मर्मों को उधेड़ कर रखता है और जो दिखाई पड़ता है उसके मुख पर दे मारता है। इस एकांकीकार में उत्तेजना भी है, पर गम्भीरता सागर से भी गम्भीर। बौद्धिक-तत्व प्रधान है पर भावुकता को अस्त्र की भाँति तीक्ष्ण-धारवाली बनाये हुए है। हँसी में जैसे युगों-युगों की कड़ुवाहट और विद्रूपता उभर आती है, रोने में जैसे अतलस्पर्शी अनन्त हूक उफनी पड़ रही है। पात्रों की आँखें भीतर धँसी हुई पर आँखों में घुस कर हृदय और अन्तस के तमसावृत कक्ष के घिनौने प्रबल मलिन जंतुओं को कुरेदने वाली। बुद्धि में अतुल साहस कि शब्दों में ही बड़े-बड़े डिम्बधारी को चित्त-पट्ट कर दें।

यह कलाकार वाक्-वैदग्ध्य (wit) का तो पूर्ण अधिकारी होता है। एक-एक आधार के अन्तररहस्य का जैसे यह विधाता ही है। इसके लिए यथार्थ अयथार्थ में जगत नहीं बँटा हुआ—मनोवैज्ञानिक से आगे मनो-विश्लेषणात्मक साधनों से यह काम लेता है। पाप-पुण्य की परिभाषायें ही यहाँ गलत हो जाती हैं। जो दृश्य और मूर्त है वह जैसे इसकी प्रबल कला के झंझावातों और आग से काँपने लगता, डिगमगाने लगता है और पिघल-पिघल कर विलीन होता हुआ दृष्टिगत होने लगता है। भुवनेश्वर के एकांकी इसी वर्ग के हैं।

३—**अनुभूतिमय एकांकी**—तब ऐसे भी एकांकी हैं, जो जगत और उसके व्यापार को देखते हैं, उसके प्रत्यक्ष और मूर्त रूप को देखते हैं—उनमें कहीं उन्हें कोई आदर्श मनोरम प्रतीत होने लगता है, कोई व्यापार चमत्कारक। वे इस चल जगत् में किसी हृदयस्पर्शी अनुभूति को पाकर विमुग्ध हो जाते हैं और एकांकी की कला के द्वारा उसे प्रस्तुत कर देते हैं। उनके मन में उमड़ा हुआ सौन्दर्य, ज्ञान का कण, या कल्याण का दर्शन विविध पात्रों के रूप में अभिराम सुषमा के साथ प्रकट हो जाता है।

भावुकता से अधिक रस-संचार, बुद्धि-व्यापार से अधिक निमग्नता, आवेश-आवेग संयत—मन्द पर मधुर मधुर। विस्मय हो सकता है पर आनन्द का—विषाद और अवसाद आते हैं पर भूमिका बन कर माधुर्य की मधुरता को और भी अधिक उन्मादक बनाने के लिए। कलाकार की लेखनी जैसे कल्पना की किसी अप्सरा लोक में विचरण कर रही हो। डा० रामकुमार के कितने ही एकांकी, और प्रसादजी का 'एक घूँट' ऐसा ही एकांकी है।

४—व्याख्यामूलक एकांकी—एकांकीकार कर्म-रत प्रस्तुत हो उठता है, उसने जो जाना और सुना है, अथवा जिसे वह जगत के द्वारा जाना हुआ और समझा हुआ समझता है, उसे अपना कला का विषय बनाता है, पर उसकी वह कोई अनूठी व्याख्या करता प्रतीत होता है। कोई नया रूप या नया कारण वह प्रस्तुत कर देता है। ऐसा एकांकीकार बहुधा इतिहास और पुराणों से अपने कथानक चुनता है, और उन पात्रों अथवा कथा की नूतन सामयिक दृष्टिकोण से व्याख्या कर रख देता है। कल्पना से भी कोई संभव कहानी वह बना सकता है, पर तब वह किसी प्रचलित रूढ़ि की नयी व्यवस्था करने का उद्योग करता होता है। सेठ गोविन्ददासजी के कुछ ऐतिहासिक एकांकी, अवस्थीजी के भी। 'अशोक वन' नाम का अनुवादित एकांकी इसी वर्ग का है।

५—आदर्श मूलक एकांकी—इन सबसे भिन्न वह एकांकी है, जिसमें किसी आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। आदर्श किसी व्यक्ति में उतरा है, और वह आदर्शमय होकर महान, पूजा योग्य तथा अनुकरणीय हो गया है। भावुकता और भक्ति का समावेश इसमें हो उठता है। इस नाटककार के प्रधान साधन रस हैं। हम चरित्र के उत्थान को देखते हैं, कठिनाइयों की भीषणता को देखते हैं—और आदर्श पुरुष अटल अपने मार्ग पर ऊँचा चढ़ता ही चला जाता है।—'कुनाल' एकांकी।

६—प्रगतिवादी एकांकी—वे एकांकी जो देश-समाज और व्यक्ति की वर्तमान-कालीन स्थिति को लेकर किसी विशेष कर्तृत्व के लिए कटिबद्ध

हो जाने की प्रेरणा लिये हुए हैं। इनमें समस्त मोहों का परित्याग होता है। वस्तु-स्थिति की कठोरता का नग्नचित्र, और व्यंग से मिलने वाला उनके लिए परामर्श। ये एकांकी देश और संसार में होने वाली किसी भी घटना को अपना विषय बना सकते हैं। वह युद्ध का मोर्चा हो सकता है, बंगाल की भुखमरी हो सकती है, रेल दुर्घटना हो सकती है, राशनिंग का दौर-दौरा हो सकता है, मिल की हड़ताल, विद्यार्थियों का विद्रोह, और वह सब जो आज चारों ओर चल रहा है। पर वह केवल चित्र या वर्णन के लिए नहीं, तत्सम्बन्धी प्रगति के लिए कर्तृत्व की प्रेरणा को। पलायनवाद का विरोधी है यह, जड़ता भी नहीं चाहता। कला के मूल्यों को सामायिक ऐतिहासिक महानताओं पर न्यौछावर होता देखना चाहता है। इनके लेखकों में वैज्ञानिक भौतिकवाद और समाजवाद का प्रभाव दृष्टिगत होता है। हिन्दी में एकांकी के मूलवृत्ति के अनुसार ये प्रधान भेद और वर्ग मिलते हैं।

हिन्दी एकांकियों में विविधवाद—

कलाकार किसी विशेष प्रणाली और दृष्टि से अपनी कला को रूप देता है। उसकी इस अभिव्यक्ति में जो प्रबल तत्व होते हैं वे सामयिकता और उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के नाते अपना एक पृथक् स्थान बना लेते हैं। जब उन तत्वों का दार्शनिक महत्व माना जाने लगता है, अथवा उनके सम्बन्ध में एक चैतन्य आकर्षण और आग्रह उत्पन्न हो जाता है और वे कुछ कलाकारों के लिए किसी सीमा तक उनके विश्वास की वस्तु अथवा कला के प्रकाश का निश्चित माध्यम बन जाते हैं तो वे वाद और सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लेते हैं। अनेक वाद अपने विभिन्न जन्मस्थानों से साहित्य में उतर आते हैं। हिन्दी के एकांकियों में भी हमें विविध वादों के दर्शन होते हैं। कुछ एकांकीकारों में तो वाद के प्रति पूर्ण चैतन्य है, जैसे अधिकांश प्रगतिवादियों में। कुछ एकांकीकारों में यह 'वाद' वाद की चेतना के कारण नहीं होता वरन् कला को आवश्यकता सिद्ध करने के लिए उन्हें किसी न किसी वाद का आश्रय ग्रहण कर लेना पड़ता है; ऐसा जानकर नहीं तो

अनजाने ही हो जाता है। फलतः आज के साहित्यकार की कला वाद से सर्वथा वञ्चित नहीं रह पाती, उसे किसी न किसी वर्ग का होना ही पड़ता है; वह न भी हो तो आलोचक उसकी विचार-सम्पत्ति और प्रणाली की परीक्षा कर कोई नाम दे देता है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद की समस्या यद्यपि आज पुरानी पड़ गयी है, फिर भी इनकी भूमि पर ही नये वादों के गढ़ खड़े हो रहे हैं।

आदर्शवाद के दो रूप—साहित्य में आदर्शवाद ने सबसे अधिक प्रभाव दिखाया है। कवि और कलाकारों ने स्थूल से स्थूल आदर्शों से आरम्भ कर सूक्ष्म से सूक्ष्म तक पहुँच दिखायी है। लौकिक और अलौकिक -सभी ओर उन्होंने आदर्श प्रस्तुत किये हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने इन्हें खड़ा किया है—उन्होंने आदर्शों को विविध दृष्टियों से ग्रहण किया है और विविध रूपों और शैलियों में ढाल कर उन्हें साहित्य की वस्तु बनाया है। यह सब होते हुए भी प्रायः दो ही प्रणालियाँ आदर्श खड़ा करने की होती हैं—एक मानव में वीर पूजा के बद्धमूल भाव से, दूसरी सर्वांशतः पूर्णता की कल्पना-सृष्टि से। इन सब में अनुकरण का स्पष्ट अथवा संकेत-मय आदेश अवश्य होता है। हरेकृष्ण प्रेमी के 'मन्दिर' में हमें आदर्शवाद के प्रबल दर्शन मिलते हैं। सेठ गोविन्ददासजी के भी प्रायः सभी एकांकी आदर्शवाद की कोटि में आयेंगे, सद्गुरुशरण अवस्थी के भी। पर आदर्श-वाद भी किसी एक ही रूप-रङ्ग का नहीं होता।

वीर-पूजा के भाव से प्रेरित आदर्शवाद के विधान में या तो किसी ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष का चरित्र केन्द्र बनेगा, या कोई भी कल्पित पात्र अलौकिक, अद्भुत और प्रशंसनीय गुणों से युक्त चित्रित किया जायगा। इस वैज्ञानिक युग में यद्यपि अलौकिकता और अद्भुतता का रूप इतना अतिरेकमय नहीं हो सकता कि उसमें असम्भवता और जादू के से चमत्कार का प्रकाश हो अथवा ईश्वरत्व का आरोप हो, फिर भी किसी एक गुण को पराकाष्ठा तक विकास में ले जाना उसे अलौकिक और अद्भुत कर

देता है। सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक एकांकी देखे जा सकते हैं। कई स्थानों पर केवल भगवान के दर्शन या देवी का प्रादुर्भाव होते-होते बच जाता है।

किसी दोषनिवारण या पूर्णता की कल्पना से प्रस्तुत किया गया आदर्श-रूप हमें प्रेमीजी के एकांकियों में मिलता है। यह आदर्श समाज या जीवन की विविध समस्याओं के लिए पेश किया जाता है और इसमें मनुष्यों की सद्वृत्तियों को आकृष्ट करने और उभारने तथा उनसे अपील करने की चेष्टा होती है। प्रथम प्रकार के आदर्श केवल अनुकरणीय आदर्श के रूप में उत्तेजक रूप-रेखा से प्रस्तुत भर कर दिये जाते हैं। साधारणतः इनमें आह्वान का भाव उतना प्रबल नहीं होता जितना दूसरे प्रकार के नाटकों में। सुदर्शनजी के 'राजपूत की हार' में प्रथम कोटि का आदर्श है, भट्टजी के एकांकियों में दूसरे प्रकार का।

यों तो 'आदर्श' की कल्पना प्रत्येक वर्ग में हो सकती है, यथार्थ का चित्रण करने वाला भी अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए किन्हीं चुनी हुई परिस्थितियों को ही काम में लाता है और कभी-कभी यथार्थ के चित्रण के द्वारा यथार्थ में विद्यमान समस्या और कटुता को अंकित कर जैसे किसी आदर्श की ओर संकेत करता है, यद्यपि उस आदर्श की विद्यमानता में विश्वास नहीं करता। आदर्शवादी प्राप्य को प्राप्त करके दिखाता है—वह उसकी मूर्त-कल्पना अपनी कला से साकार कर देता है।

आदर्श और यथार्थ में साधारणतः प्राप्य और प्राप्त का ही अन्तर है। आदर्शवादी मनुष्य में अत्यन्त-शक्ति की प्रतिष्ठा करता है, वह उस शक्ति में कभी-कभी दैवी तत्व के दर्शन करता है। निश्चय ही आदर्शवादी व्यक्ति आशावादी होगा। वह सद्गुणों की परिणति में अच्छे और मीठे फल ही प्रस्तुत करेगा। आदर्शवादी का सारा उद्योग या तो 'वीर' को अत्यन्त मोहक रङ्गों में, उत्कृष्टतम रूप में चित्रित करना होता है, या कल्पना-द्वारा किसी सुखमय स्वर्ग की रचना का। आदर्शवादी का प्रधान साधन भावना-लोक है, भाव-जगत् में वह एक मनोरमता के दर्शन करता है और उसे ही एकांकी का रूप दे सकता है।

आदर्शवादियों पर आक्षेप—फलतः आदर्शवादी पर कई आरोप किये जाते हैं। पहला आरोप यह किया जाता है कि वह कल्पना-लोक में विचरण करता है, मिथ्या प्रलोभनों द्वारा उत्तेजित करता है, और अन्ततः पलायनवादी बनता है।

दूसरा आरोप पलायनवाद की ही व्याख्या है। वह वास्तविकता का सामना नहीं करना चाहता। यथार्थतः मनुष्य जिन दुर्बलताओं का समूह है उनकी ओर से आँख मूँद कर किसी कल्पना की मधुरिमा में मग्न रहने से वह अहित करता है। वह अस्वाभाविकता को प्रश्रय देता है, और जब हाड़-मांस का बना प्राणी भाव-लोक से उतर कर इस ठोस जगत् में हाथ-पैर फैलाता है तो उसे देख पड़ता है कि विशिष्ट गुणों का जो बल उसने समझा था वह वस्तुतः नहीं है।

यथार्थ-जगत् में इस दूसरे आरोप की परिणति से बचने के लिए आदर्शवादी को इस लोक से परे की, पुनर्जन्म की और स्वर्ग आदि अमानवीय अलौकिक प्रलोभनों की शरण लेनी पड़ती है।

चौथा आरोप यह होता है कि आदर्शवादी आदर्श की प्रेरणा के लिए मानव को भावुक प्राणी ही बनाता है, बुद्धिवाद पर वह नहीं टिकता। वीर आदर्शों के लिए वह जिन चरित्रों को खड़ा करता है, वे प्रतिक्रियात्मक ही बनेंगे। चरित्र-युग के परिणाम होते हैं, युग के लिए ही उनका उपयोग होता है, उनमें युग-युग का सन्देश देखना अवास्तविकता को अपनाना है। किन्तु आदर्शवादी विगत का पूजक और विकास का विरोधी हो जाता है।

पाँचवाँ आरोप यह होता है कि आदर्शवादी जो सुलझाव प्रस्तुत करता है, वे हल नहीं होते, आरोप होते हैं। जब उनसे भावुकतावश प्रेरित मानव-समाज उनको अपनाने चलता है तो जीवन में जटिलताएँ और विकृतियाँ ही अधिक फैलती हैं। हल वह होता है जो स्वभावतः परिस्थितियों से विकसित होकर प्राप्त होता है। २ × २ का हल ४ तो ठीक है, पर आदर्शवादी यह हल नहीं देता; उसने उसकी कल्पना २२ कर रखी है, और २ × २ वह २२ बतायेगा। 'एक सिक्ख सवा लाख के बराबर है' आदर्शवादी गणित

का परिणाम है। प्रेमीजी के 'मन्दिर' में ऐसी मान्यताओं की एक प्रदर्शिनी हमें मिल सकती है—माधव का राधा के लौकिक प्रेम से उठकर विश्व-सेवा में प्रवृत्त हो जाना, साधु बन जाना, मुहम्मद और मालती का हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए मातृ-मन्दिर का निर्माण कर लेना, कवि को अनायास सहायता मिलना आदि।

छठा यह है कि आदर्शवादी कला के साथ अत्याचार करता है, वह उसे अपने द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए दबोच कर काम में लाता है—कहीं असम्भाव्य आकस्मिकताओं की शरण लेता है, कहीं अलौकिक शक्ति और चमत्कारों का सृजन करता है, कहीं अतिमानव का।

यथार्थवादी आदर्श—यथार्थवाद की मूल स्थापना तो केवल यह है कि जो जैसा है उसे वैसा ही प्रस्तुत करो; एक चित्र दो जो असल हो, जिन सीमाओं में हो उन्हें स्वीकार कर चलो। इसमें स्पष्ट ही जड़वादी या भौतिकतावादी दृष्टिकोण है, और साधारणतः निराशावादिता का प्राधान्य मिलेगा। इस वाद के विश्वासी को जगत् मे दुःख और असफलताओं का ही ताण्डव चतुर्दिक् दिखाई पड़ता है। उसे मनुष्य में दुर्बलताओं का समूह क्रीड़ा करता मिलता है, और जगत् में वह संघर्ष जो विनाशक और संहारक है। यहाँ वे विषमताएँ हैं जो सुलझ नहीं सकतीं। यथार्थवाद का यह घोर अवसादपूर्ण चित्र गणेशप्रसाद को 'सुहागबिन्दी' में हमें मिल सकता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'लक्ष्मी के स्वागत' में भी यही यथार्थ है। यह मृत्यु से डरा हुआ, उसकी छाया से आक्रान्तवाद है। साधारणतः इतना गहरा अवसाद हिन्दी के एकांकियों में नहीं मिलता। इसके लिये तो कविताओं, कहानियों और उपन्यासों को देखना पड़ेगा। यह वाद व्यक्तिवाद की भित्ति पर है और व्यक्ति की मनोवृत्ति का प्रतिफलन है।

किन्तु यथार्थवाद का केवल यही रूप नहीं। इसमें से निराशा के अवसाद को हटाकर भी रचनाएँ हो सकती हैं। इनमें नाटककार अपने मनोभाव को उपस्थित नहीं करता। वह चित्र को अपने दृष्टिकोण से नहीं देखता, निरपेक्षता के भाव से देखता है। उदयशंकर भट्ट के एकांकियों में यही प्रवृत्ति

है, विशेषकर 'दस हजार' में। इस दृष्टिकोण में तटस्थता के भाव से लेखक 'कमेडियन' भी हो सकता। निराक्षेप हास्य का प्रादुर्भाव भी इस दृष्टि में हो सकता है। भगवतीचरण वर्मा भी इस दृष्टि से इसी यथार्थ को अपने एकाङ्कियों में उपस्थित करते मिलते हैं।

इस वाद का नाटककार निरापेक्ष वस्तुगत भाव में और गहराई में जा सकता है। वह उस चित्र में आई वस्तु और तत्त्वों की कार्य-कारण-परम्परा का भी उद्घाटन कर सकता है। मनोविश्लेषणात्मक आधार पर निर्मित एकाङ्की इसी प्रकार के यथार्थ में परिगणनीय होंगे। यौन की अस्वस्थ परिस्थितियों से उत्पन्न सामाजिक स्थितियों का दिग्दर्शन जैसा भुवनेश्वरजी ने किया है, वह यथार्थ में ही आयेगा। इस वर्ग का नाटककार अपनी वस्तु के साथ वैसा ही कठोर होगा जैसा एक वैज्ञानिक।

इसी यथार्थवाद के क्षेत्र में जब लेखक या कलाकार गहरा तो जाय पर कार्यकारण की परम्परा न देखे, आवरणों को उधेड़ दे और नग्न रूप प्रस्तुत कर दे—यह नग्नता वस्तु की, विषय की, भाव की, किसी भी तत्व की हो सकती है—तब इस वाद को, जो नग्नता का चित्रण करता है, जिसमें झिझक नहीं होती, जो पाप-पुण्य के क्षेत्र से परे हो जाता है, एक और नाम दे दिया जाता है—इसे अतियथार्थवाद कहते हैं।

किन्तु जहाँ केवल सामाजिक रूढ़ियों के आवरण ही उधेड़े जाते हैं वहाँ नग्नता से बचते हुए अपनी कला का रूप खड़ा करने में हम उपेन्द्रनाथ अश्क को अत्यन्त कुशल पाते हैं। उनके अधिकांश एकाङ्कियों में यही बुद्धिवादी यथार्थ है।

प्रगतिवाद—कार्य-कारणवाली यथार्थ की परम्परा में ही प्रगतिवाद की वस्तु और कला का मर्म मिलेगा—'यथार्थवाद' प्रगतिवाद का साधन है। पर 'यथार्थवाद' किसी उद्देश्य को प्रश्रय नहीं देता, वह जो है उसे प्रकट कर के रह जाता है। जब तक यथार्थ इतना ही है वह वस्तु का यथार्थ है, और यथार्थवाद यहीं तक रहता है, पर जो वस्तु के यथार्थ में से उद्देश्य का यथार्थ या आदर्श (?) सिद्ध करता है वह प्रगतिवाद हो जाता है। उद्देश्य के यथार्थ

को आदर्श का नाम दिया जा सकता है, क्योंकि वह उद्देश्य प्राप्य ही होता है। पर ऐसा करने में एक भारी भूल हो जायगी। प्रगतिवादी आदर्श ऐतिहासिक या भौतिकवाद का आदर्श है। इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन कर के बुद्धि-द्वारा एक व्यवस्था परिकल्पित की गई है—उसकी प्राप्ति भावुकता पर निर्भर नहीं, उसके आधार यथार्थ की भाँति ठोस हैं—और वही उद्देश्य रहता है। ऐसे उद्देश्य को आदर्शवादी आदर्श से भिन्न ही संज्ञा देनी होगी। प्रगतिवादी रचनाएँ समाज में व्यापक सड़ायँध के गर्हित और नग्न चित्र भी देंगी, उनके मौलिक कारणों की ओर भी इङ्गित करेंगी और उद्देश्य या लक्ष्य की ओर प्रेरित करेंगी। अविनाशचन्द्र के अधिकांश एकाङ्की ऐसे ही हैं।

कलावाद—यथार्थवाद के अन्तर्गत प्रगतिवाद और आदर्शवाद उपयोगितावादी कला में विश्वास करते हैं। ये प्रधानतः सत्य और शिव के उपासक हैं। किन्तु ऐसे भी कलाकार हैं जो 'कला कला के लिए ही' मानते हैं। ये सौन्दर्य के कवि हैं। कला को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। पुष्प की सुन्दरता किसी उपयोग के लिए नहीं, आनन्द का शाश्वत तत्त्व इसी कला के सौन्दर्य और सङ्गीत से उद्भूत होता है—कलावादी इसी ओर प्रवृत्त होता है। हिन्दी के एकाङ्कियों में डाक्टर रामकुमार ने 'बादल' जैसे एकाङ्की में इसी वाद की प्रेरणा दिखाई है। आगे उनमें आदर्श और यथार्थ का पुट भी मिलता है, पर यह कलामय तत्व उनमें प्रधान रहा है। 'पृथ्वीराज की आँखें' और 'रेशमी टाई' में कलामय आदर्श का चित्रण है और 'चारुमित्रा' में कलामय यथार्थ का। 'उत्सर्ग' में प्रेम की प्रतिहिंसा आदर्श नहीं मानी जा सकती। 'रजनी की रात' में समाज और स्त्री की यथार्थता प्रकट की गई है—वह भी आदर्श नहीं। 'अन्धकार' में वासनामय प्रेम की यथार्थ विद्यमानता को ही कलामय रूप दिया गया है। 'चारुमित्रा' में आदर्श और यथार्थ में सङ्घर्ष है। वे 'यथार्थ' को भारतीय दृष्टिकोण से देखने चलते हैं, और कला उनके समस्त बुद्धिवादी विधान को आवृत किये रहती है। वे यद्यपि प्रगतिवादियों की नग्नता और अश्लीलता के घोर विरोधी हैं, पर कलामय आवरण से 'अन्धकार' में वहा प्रगतिवादियों से भी अधिक उनसे प्रतिपादन

पा गई है। प्रगतिवादी तो 'वासना' को एक आवश्यक प्राकृतिक तत्व मानेंगे हैं या उसे कहीं-कहीं पूँजीवाद का कुफल समझेंगे हैं, पर डाक्टर रामकुमार तो उसे नैतिक और आचरण सम्बन्धी आवश्यकता तक सिद्ध कर गये हैं। 'कलावाद' ने उनके इस अन्तर को रहस्यमय रखा है, बस। 'कला' का यह निस्सन्देह एक नया ही उपयोग माना जाना चाहिये।

अभिव्यञ्जनावाद तथा प्रभाववाद—'कलावाद' का ही शैलीगत पक्ष अभिव्यञ्जनावाद है, जहाँ सौंदर्य शब्द, शैली और अर्थ में सन्तुलित न हो वरन् जिसमें अर्थ द्वारा अभिव्यक्त वस्तु में ही कला ने सौन्दर्य का दर्शन किया हो, वहाँ हम 'कलावाद' नाम दे सकते हैं। पर यदि वस्तु और अर्थगत सौन्दर्य के दर्शन से हटकर नाटककार अपने नाटकीय विधान के वैचित्र्य, वैलक्षण्य तथा चमत्कार में व्यस्त हो जाय और अर्थ से अधिक, वस्तुगत सौन्दर्य से अधिक विधान, शैली और रूप में ही 'सौन्दर्य' प्रस्तुत करे तो उसमें हम अभिव्यञ्जनावाद ही पायेंगे। इस परिभाषा से डाक्टर रामकुमार वर्माजी का 'अन्धकार' एकाङ्की 'कलावाद' से अधिक अभिव्यञ्जनावाद की वस्तु माना जायगा। 'अन्धकार' की समस्त रचना नाटकीय विधान और रूप में महार्घ है। दिव्यता, अलौकिकता के उज्ज्वल आलोक में विचरण करने वाले प्राणी (यदि उन्हे यह शब्द दिया जा सकता हो) और उनके महत् सङ्कल्प और अन्धकार-विनाश के लिए महान आन्तरिक सङ्घर्ष से जितना चमत्कार उत्पन्न हुआ है नाटक के प्रकृत अर्थ के लिये वह आवश्यक नहीं, फिर भी एक कलागत सौन्दर्य उसमें मिला जाता है। यदि अश्विनीकुमारों का प्रसङ्ग इसमें न आता तो अभिव्यञ्जनावाद का चुस्त रूप इस एकाँकी में प्रकट होता।

इस एकाँकी को, क्लिफर्ड फाक्सके एकांकी 'क्लोक' अंग्रेजी के प्राचीन 'मिरट्री प्ले' के स्वभावका आधुनिक कला द्वारा प्रस्तुत रूप कहा जा सकता है। इस 'क्लोक'में इतनी महार्घता नहीं, और न इतना रूप-सौन्दर्य है, जितना वर्माजी के 'अन्धकार' में। विषय तक के विवेचन मे वह गहराई नहीं,

और न वह दार्शनिक चिन्ता। अतः 'क्लोक' अभिव्यञ्जनावाद का एकांकी नहीं माना जा सकता।

प्रभाववाद साहित्य में एक दूसरे क्षेत्र से लाया गया है। इसका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ कला 'सौन्दर्य' अथवा अन्य किसी उपयोग के लिए प्रयोग में नहीं लायी गयी है, जिसमें किसी 'अर्थ' की अभिव्यक्ति न हो, वरन् प्रभाव की हो। 'अर्थ' और 'प्रभाव' में बड़ा अन्तर है। अर्थ एक तारतम्य रखता है, प्रभाव में कोई तारतम्य नहीं, प्रभाव तो एक ऐसे रूप-निर्माण में है जो प्रबल और विचित्र रूप से अपनी ओर आकृष्ट करे और आपको रोक ले; जिसके तत्वों के सम्बन्ध में आप आवश्यक—अनावश्यक अथवा किसी बोधगम्यताका विचार ही न आने दें। आकाश में बादल विविध रूप भरते हैं, जिनके रूपो में न कोई अर्थ होता है, न कोई अन्य बोध-तत्त्व को संतुष्ट करने वाली कड़ी, पर आकाश में उनके चित्रों में प्रबलता होती है। उनका सौन्दर्य केवल उनके 'प्रभाव' में निहित है। प्रभाववाद का अर्थ रहस्यवाद नहीं। प्रभाववादी कला के तन्तु प्रतीक नहीं होते, न वे जो प्रकट है उसके अतिरिक्त स्वतः उसके परे की कोई सूचना देते हैं, वे किसी रहस्य में परिणत नहीं होते। हिन्दी के एकाँकियों में इसका नितान्त अभाव नहीं, यों ऐसा कोई पूरा एकाङ्की तो नहीं दिखाई पड़ता; और यह प्रभाववादिता कुछ अंग्रेजी लेखकों की भाँति भाषा की प्रभाववादिता के रूप में कहीं प्रकट भी नहीं हुई है पर दृश्यविधान में इसका दर्शन हमें कहीं-कहीं अवश्य हो जाता है। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सुहाग-बिन्दी' में अन्त में अ।स्थिखण्डों से बिल्लीका आकर क्रीड़ा करने लग-जाना इस प्रभाववादी कला का ही परिणाम माना जायगा। भुवनेश्वरजी के 'ऊसर' में भी कुत्ते और बच्चे के द्वारा इसकी झलक दिख जाती है।

इस विवेचन के बाद हम यह निस्सङ्कोच कह सकते हैं कि हिन्दी एका-ङ्कियों की आधुनिक रूप-रेखा तो मूलतः यथार्थवादी है। प्रगतिवाद उसमें अपने लिए एक प्रबल रूप पाने के लिए छटपटा रहा है, यद्यपि वह अपने अभिप्राय को यथार्थतः प्रकट करने के लिए कला का पूरा वरदान नहीं पा सका है। प्रगतिवादी कला का यथार्थ विकास अभी होना है। वह इधर कुछ

अच्छी अभिव्यक्ति करने भी लगी है ! प्रगतिवादी कलाकार इसमें कला की चिन्ता न कर अपने लिए जनता का एक रङ्गमञ्च प्रस्तुत करने की चेष्टा में है। दूसरे वादों के कलाकार विशेष संस्कृत-क्षेत्र में अव्यावसायिक तथा अस्थायी रङ्गमञ्चोंका उपयोग कर लेते हैं, और कई एकाङ्कीकारों की कई रचनाएँ तो हिन्दी में कैसा भी रङ्गमञ्च नहीं पा सकीं। हिन्दी के रङ्गमञ्च का निर्माण प्रगतिवादियों के हाथों हो जाय तो कोई आश्चर्य न होगा।

भाग ४

—कुछ एकांकियों पर विशेष—

राजपूत की हार—[सुदर्शन]

नाटक का रसतत्व—इस नाटक का मूल आश्रय भावुकता है। नाटककार की प्रवृत्ति में दो तत्व होते हैं: बौद्धिक और भावुक। पर इसमें बौद्धिक तत्व कम है। नाटक का पूरा विन्यास भावुकता के आधार पर ही खड़ा किया गया है। उसका कारण है: जिस क्षेत्र से लेखक ने अपनी सामग्री ग्रहण की है वह मर्यादा, आन, वीरता जैसे भावात्मक सत्यों पर आरूढ़ है और प्राणों का सौदा उसका केन्द्र है। ऐसे क्षेत्र में भावुकता प्रधान हो ही जायगी। इसका कथानक है—महामाया का पति जसवन्तसिंह पीठ दिखा कर रण से भाग आया है, माया को इससे विकट धक्का लगता है। उसे यह अपनी आन, मर्यादा और वीरता के विपरीत प्रतीत होता है। ये सब केन्द्रित होते हैं एक आदर्श की मान्यता पर। जसवन्तसिंह—अपना पति महामाया को उस आदर्श से गिरा हुआ लगता है। उसमें आदर्श का आग्रह इतना है कि जो अपने उस आदर्श से गिर गया है, महामाया उसको उस रूप में भी मानने के लिए तैयार नहीं है। जसवन्तसिंह को जिस आदर्श रूप में वह ग्रहण किये हुए थी, आज वह उस से गिर गया है। वह मानती है कि उसका पति ऐसा नहीं हो सकता। अतः माया जसवन्तसिंह को

अपना पति भी मानने को तैयार नहीं। इस कथानक के मूल में जिस आदर्श की प्राणप्रतिष्ठा मिलती है वह भावुकता के सहारे ही नाटक में प्रकट हो सकता है। युद्ध-वीरता तो प्राणों का व्यवसाय है, अतः उसमें बौद्धिक व्यवसाय के लिये स्थान नहीं। हाथियों को भी लड़ाने के लिए शराब पिलाई जाती है। प्राणत्याग साधारण बुद्धि व्यवसाय नहीं।

कथोपकथन—सुदर्शनजी अपने कथोपकथनों के लिए प्रसिद्ध हैं। इस नाटक में जो कथोपकथन है, उसमें भावुकता का प्रधान तत्व तो मिलता ही है, किन्तु उसके साथ आवेशमय कटु आक्षेप मिलते हैं। और लेखक का कौशल इसमें है कि उसने इस प्रकार के कथन के द्वारा ऐसे आक्षेप करने वाले के चरित्र को ऊँचा उठाया है। वे कटु आक्षेप असद्भावना से नहीं किये हैं। हृदय से इतने घनिष्ठ रूप से वे सम्पर्कित हैं कि अन्तर्पीड़ा उनमें से झिलमिला उठती है।

दूसरी बात यह भी मिलती है कि कथोपकथन पात्र और कथा दोनों की गति को आगे बढ़ाता है, किन्तु आदि से अन्त तक वह एकसा ही तीखा नहीं रहता क्योंकि इस कटु आक्षेप के साथ उसमें स्वप्निल आवेश भी है, जो भूतकालीन स्मृतियों की मिठास पर निर्भर करता है। और इसी कथोपकथन में बीच-बीच में सूक्तियाँ भी उपस्थित की हैं। कहीं-कहीं कथोपकथन लम्बे हो गये हैं।

नाटकीय-संविधान—(Plan) संविधान की वस्तु ऐतिहासिक है, फिर भी भावुकतामय है और उसका मूल स्रोत एक घटना है। नाटकीय संविधान की दृष्टि से—

(१) लेखक की दृष्टि में एक घटना वैचित्र्य है, जो विशेष रूप से चमक रही है, जिसने इस नाटक को लिखने के लिए लेखक को उभारा है। वह बड़ी आसानी से पहचानी जा सकती है। वह घटना है—'लोहे का लोहे से बजना और उससे डर कर पलायन, और इसी पर व्यंग होने से फिर युद्ध में जाना।' लोहे का भय दिखाना और उसकी प्रतिक्रिया वह बिन्दु है जिसके लिये लेखक कथानक को खड़ा

कर रहा है। अतः जसवन्तसिंह का भाग कर आना, महामाया का प्रतिरोध उस बिन्दु को (लोहे के बजने के समय को) लाने के लिए ही है।

शेष कथानक यथार्थ में कुछ नहीं है। भाग कर आना, रोक देना यह सब भूमिका की बात है। रोकने के बाद जो महामाया की अवस्था होती है वही प्रधान वस्तु है। लेखक ने अपना आदर्श सिद्ध करना चाहा है महामाया से और घटना (जो केन्द्र है) सिद्ध होती है कुलीना के द्वारा। अतः संविधान का 'चरम' ठीक नहीं बन पाया। केन्द्र बिन्दु और शेष नाटकीय वस्तु में अनुपात से संबन्ध घनिष्ठ नहीं रहा।

टेकनीक (तन्त्र)—एकांकी नाटक में यह आवश्यक है कि लेखक की दृष्टि में क्लाइमेक्स का एक स्थल स्पष्ट हो जाय। उस तक नाटक ढंग से पहुँच जाना चाहिए। वह चरम-परिणति का स्थल कौनसा है ? यदि हलुवा वाली घटना क्लाइमेक्स हो तो नाटक उस स्थान पर जहाँ महामाया यह कहती है कि 'यह आपकी ही कृपा है' समाप्त हो जाना चाहिए था।

बात यह है कि लेखक को कुछ बात कहने का मोह है। वह क्लाइमेक्स को उल्लङ्घन कर जाता है। 'धाय के दूध' की बात उसे कहनी है, स्त्रियों की प्रशंसा उसे करानी है। जसवन्तसिंह को 'यह आपकी कृपा है' के बाद ही चला जाना चाहिए था। उसके बाद (anti climax) विषम चरम शुरू हो जाता है। टेकनीक की दृष्टि से नाटक सदोष है। जसवन्तसिंह का बाद को खड़ा रह जाना नाटक को शिथिल कर देता है। आकस्मिक घटना (accident) या उद्घाटन की शैली लेखक की है। करछुली की घटना, और नाटक के संविधान का सम्बन्ध लेखक के मस्तिष्क में तो एक है, पर वह प्रस्तुत किया है एक आश्चर्य-घटना की तरह। मा जब तक बतलाती नहीं तब तक वह घटना (दूधवाली—जो लेखक के मस्तिष्क में प्रधान रही है) सामने नहीं आती। वह घटना टेकनीक-संविधान में कहीं नहीं आती पर वह जसवन्तसिंह के चरित्र में परिवर्तन करने वाली है।

भारतीय आदर्श को क्षत्रियत्व के आदर्श में लेखक ने प्रस्तुत किया है। शुद्ध रक्तत्व की मान्यता को लेकर वह चला है। उस घटना को देने का वह लोभ-संवरण नहीं कर सका। वीर-पूजा की बात तो है ही उसमें। इसका तन्त्र-संविधान से बिल्कुल मेल नहीं खाता। क्योंकि तंत्र का चरम संविधान के चरम से भिन्न हो गया है।

इस नाटक के तीन (phase) पहलू हैं—

(१) जसवन्तसिंह को दरवाजे पर रोक लेने को महामाया का अभिनय : जसवन्तसिंह और महामाया की बातचीत।

(२) कलछी वाला दृश्य।

(३) 'धाय के दूध' की कहानी बताना।

ये तीनों अंग संगठित होकर नहीं चलते। तीनों तीन अलग अंग से लगते हैं।

पात्र-चित्रण—पात्र-चित्रण में जसवन्तसिंह के पात्र को छोड़कर सभी प्रायः ठीक से बने हैं। जसवन्तसिंह के चरित्र-चित्रण में क्या दोष है? कायरता तो दिखानी आवश्यक थी ही। पर महामाया के चरित्र की रक्षा के लिए उसे 'डाँट से आतंकित' पुरुष तो नहीं बनाना था। माता का जो यह विचार है कि मेरे बेटे में शौर्य था, है, पर राख से ढका हुआ है—वह शौर्य उस कायरता में से भी प्रकट होना चाहिए था। यह नहीं हुआ इसमें। महामाया का चरित्र (Complex character) जटिल नहीं—पर जसवन्तसिंह का (Complex) जटिल है, वह शूर है, इसकी प्रशंसा मा और स्त्री दोनों करती हैं पर सामने आने पर वह अयोग्य सिद्ध होता है। वह शुद्ध कायर और शुद्ध वीर नहीं। बीच में कहीं एक-दो शब्द भी वह शौर्य का कह जाता तब बात ठीक बैठ जाती, पर ऐसा नहीं हुआ—यह लेखक का पात्र के प्रति अत्याचार कहा जायगा। जसवन्तसिंह सुदर्शन की अकृपा का शिकार है।

'दस मिनट' (डा० रामकुमार वर्मा)

रचनात्मक तत्व—'दस मिनट' नाटक में लेखक का मुख्य भाव —करुणार्द्र वीरता का है; और इस वीरता का आधार विशेषतया 'स्त्री' होती है—उसी को प्रकट करने के लिये लेखक ने यह नाटक लिखा है। यह आदर्शात्मक वीरता—राजपूत की हार में भी है, इसमें भी है। पर दस मिनट में वह उतने आवेश पर निर्भर नहीं करती। वह भावुकता साधारण शौर्य-संबन्धी भावुकता नहीं है, काव्यात्मक भावुकता है। लेखक प्रधानतः एक कवि है, उसका व्यक्तित्व इसमें प्रकट हो उठा है।

इसीलिये समस्त नाटक एक काव्यमय सुषमा से युक्त है।
ये बीज हैं, जिन पर लेखक ने समस्त रचना की है।

संविधान—इसके संविधान में निश्चय एक ही घटना है और वह है—महादेव का अपने मित्र (बल्देव) और उसकी बहन (वासंती) के लिये अश्रुतपूर्व त्याग! उसकी अश्रुतपूर्वता ही संविधान के तत्व को थोड़ा दुर्बल बना देती है क्योंकि उसमें असम्भवता का सन्देह उत्पन्न हो जाता है और स्वाभाविकता की कमी दीखने लगती है। नाटक का धरातल कमजोर हो जाता है। उस असंभवता के कारण नाटक में एक काव्यमयता तथा सुषमा तो अवश्य आती है पर, संविधान कमजोर पड जाता है। इससे आगे जाकर पता चलता है कि नाटककार कहीं चूक कर गया है।

महादेव बल्देव के लिये इतना त्याग क्यों करता है? जितने पर मनुष्य अपने मित्र के लिये बलिदान होसके, वैसी सामग्री नाटक में नहीं। उस स्थल तक लाने के लिये जो मानसिक उथल-पुथल होनी चाहिये, वह यहाँ नहीं है। इसीसे वह असम्भव-सा लगता है।

इसके समान दूसरी असम्भावित बात लेखक को लिखनी पड़ी—कि केवल मैली दृष्टि से देखने के कारण ही बल्देव ने केशव को छुरा भोंक दिया। भावुकता की दृष्टि से चाहे कुछ भी हो पर बौद्धिकता की दृष्टि से बल्देव-

पागल के सिवाय कुछ नहीं ठहरता। क्योंकि 'बौद्धिकता चाहती है कि आप दूसरों की मैली दृष्टि के लिये अपने को क्यों जिम्मेवार बनाते हैं—आप अपनी दृष्टि ठीक रखिये। यदि चोर को प्रलोभन देने वाला धनी व्यक्ति अपने धन की रक्षा नहीं कर सकता तो बौद्धिकता की दृष्टि से वह भी दण्डनीय है।

इस दृष्टि से नाटक के संविधान का धरातल दुर्बल नजर आता है। 'राजपूत की हार' में तो ऐतिहासिक धरातल था अतः वहाँ भावुकता क्षम्य भी है, पर यहां नहीं—क्योंकि यहाँ कथानक और संविधान काल्पनिक हैं।

और इस संविधान के कारण हम इस बातसे कभी सहमत नहीं हो सकते कि—"न्याय से लड़ने वाले शत्रु को अपने गले के खून से उत्तर देना चाहिये।"

मनुष्य को मारकर दण्ड देना यह आज पाशविकता है। आज आचरण के लिए प्राणदण्ड देना बड़े संकोच के साथ होता है। इस बीसवीं शताब्दी में यह नाटककार इलाहाबाद में रहते हुए, प्राण लेने की क्रिया को एक उन्नत धरातल पर उपस्थित करना चाहता है। यदि सरकार के प्राणदण्ड की व्यवस्था के प्रति उसका व्यंग्य नहीं है, तो उसका यह उद्योग श्लाघ्य नहीं। इस तरह अपनी इस व्यवस्था से लेखक कानून के सारे उत्तरदायित्व को ही मिटा देना चाहता है। किसी आदमी को कानून को हाथ में लेने का अधिकार नहीं। प्राचीन 'ग़ाजी' होने की भावना है यह तो। इस तरह खून करने वाले को दण्ड नहीं पुरस्कार मिले ?

इस तरह संविधान के मूल तत्वों में लेखक ने गलत कल्पना कर ली, और उसे गलत चीज उपस्थित करनी पड़ी है। प्राणदण्ड की उपादेयता के साथ क्रूरता और पैशाचिकता का समावेश भी लेखक कर गया है। ऐसा लगता है कि लेखक के हृदय में एक विहिंसा जागृत हो गई है—प्रतिहिंसा भी नहीं। अपराध किया है किसने ? हाथ ने, तो हाथ काट डालो। जिन नेत्रों ने देखा उनको फोड़ दो। यह क्या है ? और उनको फोड़ने के लिए बल्देव चला भी जाता है। यहाँ पैशाचिक तत्व का समावेश हो जाता है। इस कृत्य को करने में वीरता का अभाव और

पैशाचिकता का प्राचुर्य हो जाता है। नाटक में यह भी नहीं मिलता कि बलदेव ने ललकार कर केशव को मारा या छिप कर। उसमें वीरता संदिग्ध है। हाँ, महादेव के कृत्य में वीरता असंदिग्ध है।

लेखक के अन्दर इतनी विहिंसा क्यों जागृत हुई ? प्रयाग विश्वविद्यालय की सहशिक्षा से पड़ने वाले प्रभाव इसके कारण में हो सकते हैं। इस बीसवीं शताब्दी में लेखक ने क्यों प्राचीन दृष्टिकोण रखा। विश्लेषण करने पर पता चलता है कि युवक और युवतियों से घिरे हुए प्रोफेसर के हृदय में आकर्षण विकर्षण भी होगा ही। प्रेम को उन्होंने एक madness पागलपन की तरह देखा है—कुछ काव्य की दृष्टि से भी देखा है। ऐसी हालत में युवक का आकर्षण-विकर्षण होना स्वाभाविक है। इसका प्रतिकार कैसे हो ? प्रतिहिंसा में रक्षा की जो भावना है, वही भावना स्त्रियों की रक्षा के लिए भी इस नाटक में उभर आई है। युवक ने यदि आँख से देखा—तो उस आँख को ही फोड़ दिया जाय, इस निश्चय पर लेखक पहुँचता है। इस नाटक का संविधान पूर्णतः विगत है।

टेक्नीक (तंत्र) : तंत्र की दृष्टि से नाटक बहुत पूर्ण है। वह पूर्णता हमें इस बात में विदित होती है कि तीनों इकाइयाँ—समय, कार्य और स्थल की—इसमें बड़ी सुन्दरता से निभाई गई हैं। आदि से अन्त तक एक ही स्थल, महादेव, का कमरा रहता है। समय—जितने में अभिनय समाप्त हो, उतने में ही नाटक में वर्णित घटना भी समाप्त हो सकती है। पात्र बहुत थोड़े। आदि से अन्त तक केवल पुलिस इंसपेक्टर और सिपाहियों को छोड़ कर सब कथा सूत्र के आरम्भ से अन्त तक अत्यन्त आवश्यक तत्व बने रहते हैं। नाटक की चरम परिणति यद्यपि अत्यन्त तीव्रता-पूर्वक उभर कर नहीं आती, फिर भी वह गलत स्थान पर नहीं है। इसका चरम कमजोर अवश्य है। क्योंकि आश्चर्यमय हो गया है। महादेव के मस्तिष्क का हमें पता नहीं लगता। उच्च-भाव-मंडल इसमें है। अनायास महादेव का निश्चय करना कि मैं स्वयं

गिरफ्तार हो जाऊँ—दूसरी कहानी है। विस्मय, अद्भुतता और आश्चर्य के तत्व के कारण नाटक दो हिस्सों में बँट जाता है और क्योंकि उद्घाटन करके स्पष्ट करने की आवश्यकता है, अतः अद्भुत के उद्घाटन पर चरम है हवाई (पटाखा) की तरह; जैसे वह आकाश में सुरसुराती जाती है, और अधिक से अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर फट कर के छिन्न-भिन्न चिनगारियों में बिखर जाती है—वैसा ही चरम यहाँ है।

बिना बल्देव के आवाज दिए महादेव का त्याग चरम पर नहीं पहुँचता। आवेगात्मक तत्व पूरा नहीं होता। आवेगतत्व को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए बल्देव और बासन्ती का आकर दरवाजा खटखटाना अत्यन्त आवश्यक होता है।

संविधान की दृष्टि से 'महादेव नहीं मिल सकता, वह खूनी है!' कहलाना अत्यन्त आवश्यक है। इससे बल्देव और बासन्ती पर निर्दोषता की छाप लग जाती है। नाटकीय न्याय लेखक की ओर से अत्यन्त आवश्यक है। महादेव के त्याग की सूचना बल्देव और बासन्ती को मिल जानी चाहिये थी। अप्रत्यक्ष रूप से उन दोनों के भाव लेखक पाठकों में भी भर देना चाहता है।

आकस्मिक घटनाओं का भी सहारा है। किन्तु यह कौशल तो 'नाटकीय कुशलता' कहलाता है। आदि से अन्त तक संविधान की बर्बरता को लेखक ने कला के मर्म पर आघात नहीं करने दिया है।

संविधान में पैशाचिकता का तत्व आ गया है। पर लेखक ने पाठकों को छला है। उसने आपके सामने कलामय कौशल से तीनों पात्रों के उज्ज्वल चरित्र ही रखे हैं। महादेव का त्याग हो गया, लेकिन हमारे उल्लास में बिल्कुल भी कमी नहीं हो पाती। महादेव का महान त्याग भी उज्ज्वल सुन्दर-सी चीज जिस व्यक्ति की हत्या की गई है, वह हमारे सामने अर्थ ही नहीं रखता। कितने क्षुद्र, हेय साधन के द्वारा घटना की गयी है, पर समस्त नाटक उज्ज्वल और मनोरम मालूम पड़ता है।

केशव की आँख फोड़ दी जाती है, उसे मार डाला जाता है—पर इसके अन्दर भी मधुर भावनाओं का उज्ज्वल स्रोत बहता रहता है; इसलिए नाटक उज्ज्वल है इसमें मनोरमता है। यह एक कला का पूर्ण चित्र है।

'दस मिनट' 'राजपूत की हार' से कहीं अच्छा है। नैतिक नाटक है। लेखक भारतीय स्त्रित्व के सतीत्व में विश्वास रखता है। वह मानता है कि उसका (स्त्री का) जीवन किसी महत् के लिए विसर्जित हो जाने को है। जीवन के प्रति किसी पात्र में झिझक नहीं। जीवन की महत् के लिए परिणति ही श्रेयष्कर है—यह वह मानता है। लेखक आदर्शवादी है।

स्ट्राइक (भुवनेश्वरप्रसाद)

हिन्दी में भुवनेश्वर बी०ए० उच्चकोटि के नाटककार माने जाते हैं, और हैं। सर्वश्रेष्ठ एकाङ्की नाटककार हैं। क्योंकि यथार्थ एकाङ्कीकार के लिए आवेगात्मक भावुकता पूर्ण स्थिति नहीं चाहिये जो कि इस आज के युग के पहले द्वि० ला० राय और प्रसादजी में मिलती थी। यह युग धीरे-धीरे बौद्धिकता की ओर जा रहा है, अतः वही तत्व जो बौद्धिकता की ओर जाते हैं एकांकी को श्रेष्ठ बना सकते हैं। इस बौद्धिक तत्व में जो विशेष कलामयता उत्पन्न करने वाला तत्व है, वह है—

स्वाभाविकता के साथ आया हुआ वाग्वैदग्ध्य (Wit) और व्यंग (satire)। नाटक का कथनोपकथन व्यंग्य से भरा हुआ हो कि हमें उसमें कुछ अनोखापन मिले।

दूसरी चीज है—उसकी गति अत्यन्त स्वाभाविक और साधारण होनी चाहिए। यानी पात्रों के अभिनय में नाटककार के मन में जो जैसा यथार्थ में है, उससे थोड़ी सी भी अतिरिक्त कल्पना नहीं होनी चाहिए। वह अनुभव साधारण यथार्थ जीवन में जैसा मिलता है वैसा ही होना चाहिए।

तीसरी चीज है संविधान और तंत्र की। तीन प्रकार इकाइयाँ उसमें मिलनी चाहिये। किसी नये पात्र का यथासंभव बीच में आगमन न हो। पात्र कम से कम हों, तो टेकनीक की दृष्टि से चीज सुन्दर बन जाती है।

यह जो नाटक का युग है, वह यथार्थ का युग है। इसलिए लेखक जितनी गहराई से किसी यथार्थ को उत्पन्न कर सकेगा, उतना ही वह ऊँचा उठ जायगा। इस युग में जहाँ मनुष्य यथार्थ चाहता है वहाँ रूप सेवा को कम चाहने लगता है। तन्त्र फोर्मेल्टी से और यथार्थ विषय से सम्बन्ध रखता है। विषय को रखने का धरातल जितना ऊँचा होगा, उतना ही लेखक ऊंचा गिना जायगा।

स्ट्राइक का लेखक टेकनीक में उतना पूर्ण नहीं। रामकुमार 'दस मिनट' में पूर्ण हैं। स्ट्राइक में लेखक ने स्थान बदल दिया है। पर, वस्तु की जो ऊंचाई है, उस तक और लेखक नहीं पहुँच पाते, इसलिए वह औरों से अधिक ठोस चीज देता है। और तो लिखने के लिए लिखते हैं, पर भुवनेश्वर स्टील जैसी चीज देता है। वह दिमाग में टकराता है और प्रतिक्रिया होती है।

'स्ट्राइक' : कहानी—यथार्थ में कोई कहानी नहीं। एक पुरुष ने दूसरा विवाह किया। उच्च वर्ग से मिलते हुए वर्ग का और आधुनिक सभ्यता का पुजारी वह है। स्त्री को खूब छूट दे रखी है उसने। स्त्री और उसका मन मिल नहीं रहा है। स्त्री लखनऊ चली जाती है। पुरुष ने एक व्यक्ति को निमंत्रित कर रखा है, स्त्री दूसरे घर निमंत्रित है। जब उस पुरुष को लेकर वे घर आते हैं तो पता चलता है स्त्री तो आएगी नहीं। फिर दोनों होटल चले जाते हैं।

संविधान—कथा संविधान की दृष्टि से बहुत पूर्ण है। एक जरा सी घटना लेखक ने ली है, लेकिन लेखक को घटना नहीं वर्णित करनी है। ऐसा लगता है कि जो कुछ वह कहना चाहता है उसके लिए इतने से संविधान की आवश्यकता ही पड़ गई, जिसे उसने स्वीकार कर लिया है। संविधान पर उसकी कम दृष्टि है।

इसमें कोई अस्वाभाविकता भी नहीं। स्त्री का अपना स्थान, पुरुष का अपना। इस युग में पुरुष को स्त्री से सहानुभूति की आशा रखनी है। स्थिति में अतिवाद नहीं। इस तरह संविधान पूर्ण और स्वाभाविक है।

क्योंकि संविधान का मूर्तरूप प्रायः इसमें कुछ नहीं है, अतः हम समझ हीं पाते कि 'स्ट्राइक' में क्या है? जो है भी वह कथोपकथनसे प्रकट किया हुआ भाव है और वह भी सहज या साधारण नहीं क्योंकि वह हमारी इस सभ्यता के पर्दे पर पर्दा खोलता है। यह भी आश्चर्य की एक बात है कि नाटक के समाप्त करने पर जैसे यह आधुनिक सभ्यता ही लेखक की दृष्टि में व्यंग की वस्तु हो जाती है ऐसा लगता है, उसने मानों इस वर्तमान सभ्यता पर व्यंग करने के लिए ही नाटक लिखा है। 'स्ट्राइक' नाम भी यही सिद्ध करता है।

घर का जो मुख्य तत्व स्त्री है, उसी की ओर से स्ट्राइक हो जाता है। घर की फैक्टरी बन्द हो गई। प्रश्न है, स्ट्राइक करता कौन है? मालिक की स्ट्राइक छुट्टी और सेवक की हड़ताल। यह एक शब्द 'स्ट्राइक' है, जो एकांकी की सारी वस्तु को घुमा देता है। फैक्टरी का रूपक देकर लेखक ने कहा भी है कि हमारे घर में स्त्री और पुरुष जो एक जंजीर में बँधकर रहते हैं, वह गलत है; स्त्री भोजन बनाने के लिए नहीं। शायद यह सन्देश हो कि भोजन तो होटल में खाना चाहिऐ।

'स्ट्राइक' शब्द है जो वास्तविकता को खोल देता है। वास्तविकता किसकी? घर की। इसीलिए बड़ी दूर तक लेखक के शब्द चोट करते हैं। विवाह जो इस गृहस्थी का मूल है, व्यर्थ की चीज है, क्योंकि वह पराधीनता को प्रश्रय देता है और वह इस यथार्थवादी युग में अयोग्य ठहरता है। सम्भवतः लेखक कहना चाहता है कि आप यदि प्रगति नहीं चाहते और सुख ही चाहते हैं तो दोनों चीजें विवाह-संस्था में नहीं चल सकतीं। जिस सन्देह के धरातल पर स्त्री-पुरुष दोनों बैठे हैं, उस अस्वास्थ्यकर प्रवृत्ति से आपको छुट्टी नहीं मिल सकती जब तक वैवाहिक सम्बन्ध को ही हम तोड़ फोड़ न दें। क्योंकि स्त्री-पुरुष में परस्पर सम्पत्ति-अधिकार सम्बन्धी भावना है और वह सम्पत्ति-रक्षा की भावना क्या है? अछूती और पवित्र रहने की भावना ही उस अधिकार-भावना का फल है—इस भावना पर लेखक का सीधा कटाक्ष है। जब तक अधिकार की भावना है तब तक मन में कलुष को स्थान है।

लेखक की कला यहाँ है कि पहले पता चलता है कि लेखक पाश्चात्य सभ्यता का मजाक उड़ा रहा है, पर चीज यह नहीं; आखीर में पहुँच कर ही लेखक की तलवार चोट करती है ।। यदि 'स्ट्राइक' नाम नहीं दिया गया होता तो हम असलियत को नहीं समझ सकते थे। उसका अभिप्राय स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की विषमता दिखाना है। यथार्थ में समन्वय को स्थान नहीं ।

शैली:—भुवनेश्वर की शैली नाटक के प्रति जितनी उदार है, उतनी ही कठोर भी है। नाटक के प्रति कठोरता? साधारण दृष्टि से नाटक पाश्चात्य सभ्यता पर व्यंग-सा प्रतीत होता है, और जीवन की कला "कम्बख्त जीवन की कला नहीं जानते।...." इन शब्दों को कहने वाला 'पुरुष' समझे हुए हैं, ऐसा वह पुरुष स्वयं मानता है, पर यथार्थ में जीवन की कला वह कुछ भी नहीं समझा। जीवन की कला क्या रुपया कमाने में है? धन कमाने में आज किसी कला की आवश्यकता नहीं, स्त्री-पुत्र के साथ गृहस्थी में रह कर जीवन बिताने में भी कोई कला नहीं। पर नायक 'पुरुष' इसमें भी सफल नहीं। लेखक ने 'पुरुष' के चरित्र में द्वैत्व रखा है। वह समझता है, विचार कुशल वह, व्यवहार-कुशल वह, गृहस्थी में कुशल वह। पर, वह जानता-समझता कुछ नहीं—'अमेरिका का लेखक बर्नर्ड शॉ'—"दुःख सुख शीशियों में बिका करेंगे।" इस प्रकार के गलत और अहंकार पूर्ण वाक्य कहने में वह अभ्यस्त है। लेखक 'पुरुष' के साथ अभिव्यक्ति में तो बड़ा उदार है, किन्तु अभिनय के संविधान में बड़ा कठोर है। लेखक ने बड़ी उदारता पूर्वक उनके भावों का चित्र उपस्थित किया है। चित्र के द्वारा पुरुष के प्रति हमारे मन में घृणा या उपेक्षा भी नहीं पैदा होती। ऐसा लगता है कि 'पुरुष' के पास बहुत कुछ कहने को है। पर अन्त में 'स्ट्राइक' देकर लेखक ऐसा व्यंग करता है कि सारा का सारा नाटक 'पुरुष' की बातों की मखौल उड़ाने लगता है। यह उदारता है कि 'पुरुष' स्त्री के प्रति पूरा आदर प्रकट करता है स्त्री पर वह बलिहारी जाता है।

शिष्टाचार की उदारता दीखती है। उसका क्लब में आना युवक को अपने घर खाना खिलाने लाना—शिष्टाचार की उदारता है, पर यहाँ कठोरता भी प्रतीत होती है कि उस युवक और स्त्री में इस 'पुरुष' के प्रति कोई आचार-जन्य उदारता नहीं दिखाई देती। यह व्याप्त कठोरता है। नौकर के द्वारा कुत्ते का व्यंग्य कराना। इन सब बातों से 'पुरुष' अपनी वस्तुस्थिति समझता जाता है। एक-एक कर के 'पुरुष' की बातों की पोल खुलती जाती है, पर 'पुरुष' उसे छिपाता जाता है।

"अगर स्विच कमरे के भीतर होता तो लुफ्त आ जाता" इन शब्दोंको कहते कहते जैसे 'पुरुष' अपने गले के भीतर मुँह डालकर देखने लग जाता है।

'कुत्ता बड़ा पानीदार है अंग्रेजी है।' यह बड़ा कटु व्यंग है इसकी कटुता तब और भी बढ़ जाती है जब हम समझते हैं कि ये शब्द नौकर ने कहे हैं और उस नौकर ने कहे हैं जो संवाद लाया है कि 'पुरुष' की स्त्री आज नहीं लौट रही, और जब यह व्यंजित होने लगता है कि यह कुत्ता घर में किसी बाहरी व्यक्ति को आसानी से नहीं घुसने देता—और ये पुरुष तुम...... । कथानक की गति में भी पद-पद पर कठोरता और उदारता मौजूद है। चाय पर जैसी स्थिति बनती है, उसे लेखक जरा सी देर में बिगाड़ देता है। सारी उदारता एक विभ्राट बन जाती है। इससे बढ़कर कठोरता क्या हो सकती है कि 'पुरुष' को अपने ही शब्दों के द्वारा लज्जित लेखक ने कराया है।

टेकनीक—तीसरा दृश्य यदि न दिया गया होता तो ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक ठीक रहता। पर लेखक की अपनी टेकनीक की दृष्टि से तीसरा दृश्य रहना उपयुक्त है, क्योंकि नाटककार प्रारंभ में ही किसी कथानक को लेकर नहीं चला है। इसमें साधारणतः कथानक सूक्ष्म; जो कहना चाहता है—उद्देश्य, वह विस्तृत है, उसी में व्यंग है। इस नाटक का तन्त्र कथानक के संविधान में नहीं वरन नाटक की पूर्ण गति में मिलेगा। पूर्ण गति क्या

है ? स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को इस रूप में उपस्थित करना कि वही प्रधान विषय न बन जाय; क्योंकि लेखक की शैली व्यंगात्मक है।

लेखक उन दोनों स्त्री-पुरुषों के बीच स्त्री पुरुष का सम्बन्ध दिखाना नहीं चाहता। इसीलिये वे दोनों एक दूसरे के बारे में कुछ बात करते नहीं दीखते। लेखक ने इस स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को व्यंग्य रूप में सुरक्षित रखा है। वह व्यंग्य पहले दृश्य में प्रकट होता है; स्त्री-पुरुष के गृह-सम्बन्धी व्यवहारों में यह एक पहलू है। दूसरे हाथ में हमें जिस वर्ग की सभ्यता में कि वे स्त्रीपुरुष रह रहे हैं—उसका अन्तर्दर्शन मिलता है। अगर वह अन्तर्दर्शन हमारे पास न हो तो पहले दृश्य में जो संघर्ष के बीज हैं उनका परिपाक नहीं हो पाता। उन बीजों को दर्शक, पाठक और कथा तथा विधान में परिपक्व होने की आवश्यता है। अतः दूसरा दृश्य उपस्थित किया है। यहाँ सभ्यता की पूरी मानसिक आलोचना 'क्लब संस्कृति' में प्राप्त होती है। लेखक यदि उसे नहीं देता है, तो उसे पहले के बीज को परिपक्व करने में सहायता नहीं मिलती—इसलिए दूसरे दृश्य की आवश्यकता हुई—लेखक के अपने तंत्र के वह बाहर भी नहीं।

तीसरा दृश्य पहले दृश्य का फल तथा दूसरे दृश्य की परम्परा में है। पहला दृश्य प्रस्तावना मात्र; यथार्थ नाटक तो दूसरे-तीसरे सीन में ही है। इस प्रकार जो प्रस्तावना का फल था—अत्यन्त पूर्ण रूप में प्रकट हो जाता है। अपने तंत्र की दृष्टि से लेखक में पूर्णता है। दूसरे दृश्य में शैथिल्य और तीसरे में खूब तीव्रता है। तंत्र मंदता से तीव्रता की ओर बढ़ गया है। तीन अन्वितियों मे से स्थल संकलन का इसमें व्याघात है।

एकाँकी नाटक में जो पहला पर्दा खुले वहीं सब कुछ समाप्त हो जाय, तभी उसमे पूर्णता होती है। यदि दृश्य बदलना पड़ जाय तो यह स्थल भेद उसमें अपूर्णता ला देता है।

यह एक श्रेष्ठ एकाकी है। बौद्धिकता इसमें जितनी है, उतनी किसी में नहीं। 'सब से बड़े आदमी' में कुछ है, पर जो चोरी करने

की बात है, उसमें थोड़ा लफंगापन आ जाता है। उसकी बौद्धिकता एक दोष से दूषित हो जाती है, पर भुवनेश्वर में ऐसा दोष नहीं। जितनी बार हम पढ़ें, उतना ही विचार करें—आधुनिक सभ्यता के जर्जर रूप—वैवाहिक संस्था, घरेलू जीवन, क्लब जीवन, व्यवसाय सभी का नंगा रूप दिखा दिया है। तीनों जीवन के दृश्यों को यथार्थता और व्यंग्य से लेखक ने दिखा दिया है।

लक्ष्मी का स्वागत (उपेन्द्रनाथ 'अश्क')

'अश्क' एकांकी की टेकनीक में दक्ष हैं! तन्त्र की दृष्टि से नाटक एकदम पूर्ण है। एक ही दालान जो खुलता है, वही अन्त तक रहता है। समय उतना ही है, जितने में नाटक खेला जा सकता है। 'दस मिनट' में तो सन्देह भी है समय के लिए, पर इसमें किंचित भी सन्देह नहीं। पात्र जो पहले मौजूद हैं—जिनकी कल्पना पूर्व से ही मिलती है वही अन्त तक रहते हैं। चरम बिल्कुल ठीक स्थान पर ही इसमें आता है और जैसे ही चरम परिणति आती है धक्के के साथ नाटक समाप्त हो जाता है। 'दस मिनट' में एक हूक-सी उठती रह जाती है, 'स्ट्राइक' में एक प्रश्न-सा मन में उठता रह जाता है और यह 'लक्ष्मी का स्वागत आकस्मिक समाप्ति लिये हुए है, धक्के से सभी सूत्र झनझना जाते हैं। आरम्भ से ही मालूम पड़ता है कि बच्चा मरने वाला है। यह आशंका की बात पूरी हो जाती है। सगाई की बात भी आशान्वित है और वह भी हो जाती है। पर जब ये दोनों घटनाएँ चरम पर पहुँचाती हैं, और घटित होती हैं तो अप्रत्याशित-सी लगती हैं।

संविधान:—संविधान की दृष्टि से दो सूत्र नाटक में हैं। दो दृष्टियों में जैसे संघर्ष हैं—एक माता पिता जो पुत्र के हित को किसी और दृष्टि से ग्रहण करते हैं, दूसरा स्वयं वह व्यक्ति जो किसी और दृष्टि से सत्य को ग्रहण करता है। वह दृष्टि-भेद क्या है? माता-पिता के लिए मृत्यु एक साधारण बात है। विशेषकर ऐसे व्यक्ति की मृत्यु, जिसके स्थान पर दूसरा बैठाया जा सकता है—अतः बुद्धिमान, संसार के अनुभवी व्यक्ति की तरह वे

भावों के निर्माण में अधिक दत्तचित्त हो जाते हैं। यह यथार्थ सांसारिक दृष्टिकोण माता-पिता का है। पुत्र के लिए भावुकता, यौवन की उमंग, ताजा घाव, पत्नी का प्रेम, उसको धरोहर, पुत्र—उसे प्रिय है। उसके लिए पिता की इच्छाएँ पूरी करना संभव नहीं, वे असह्य हैं। वह तो प्रेम के आदर्श, प्रेम की पीड़ा से विह्वल है, प्रेम ही उसके लिए यथार्थ है। इसमें भावुकता का तत्व विशेषरूप से मिलता है।

पूर्ण नाटक भारतीय समाज की व्यवस्था पर एक व्यंग है, जो आधुनिक काल में गृह की अवस्था को उधेड़कर रख देता है। लेखक ने एक स्थल पर कहा है—'मेरा काम समाज में गहरा नश्तर लगाना है।' यद्यपि भावुकता का इसमें तत्व है, पर नश्तर लगाया है उसने।

उसने बताया है कि घर में दो हिस्से हो जाते हैं—अभिभावक और उनके अविभाज्य। घर के ये तत्व समन्वय की भूमि पर नहीं है, अतः गृह जर्जरित हो रहा है। अत: हम देखते हैं कि माता निरन्तर असन्तोष प्रकट करती है—उसका विश्वास भूत-प्रेत, झाड़-फूँक पर है, पुत्र का आधुनिक साधनों पर। दोनों में इतना अविश्वास कि पुत्र समझता है कि उसने मेरी स्त्री को मार डाला। इतना फासला कि माँ समझती है कि बेटे में एक खास धुन आ गई है, विवाह न करने की। लेखक ने सम्मिलित कुटुम्ब पर भी एक व्यंग किया है। कितना अत्याचार माता-पिता द्वारा पुत्र पर भी हो सकता है! लेखक फल नहीं बताता, समस्या को उधेड़ कर रख देता है।

क्योंकि लेखक में भावुकता है, और भावुकता से सम्बन्ध रखने वाली घटना है प्रिय पत्नी की मृत्यु और उसके बाद बच्चे, की। इन सब घटनाओं ने एकांकी को भावुकतापूर्ण बना दिया है। आदि से अन्त तक ऐसा लगता है कि मृत्यु की छाया के नीचे ये घटनाएँ हो रही हैं। अतः एक प्रकार का अवसाद प्रत्येक क्रिया-कलाप में दीखता है, ऐसी ही एक उतावली, एक उत्तेजना-सी प्रतीत होती है।

वह भावुकता ईश्वर तक को प्रश्न की दृष्टि से देखती है और यही नहीं, उसके उदार कर्तृत्व में अविश्वास करती है।

रौशन—"मुझे उस पर कोई विश्वास नहीं रहा। क्रूर, कठिन, निर्दयी। उसका काम जते हुए को और जलाना है!"

कथोपकथन:—इसलिए कथोपकथन में उस उच्चकोटि का वाग्वैदग्ध्य नहीं मिलता जो एकाङ्की नाटकों के लिए आवश्यक है। जो कुछ भावुकता का समावेश हुआ है, वह इस संग्रह में आये सभी नाटकों से सुन्दर है। सभी कुछ स्वाभाविक है। जिस घटना को नाटककार ने चुना है, उसमें इसी प्रकार का कथोपकथन हो सकता था।

स्पष्ट, सीधा, सच्चा नाटक, कोई जटिलता नहीं। पूरा नाटक भले ही व्यंग हो, पर 'स्ट्राइक' की तरह इसका सब कुछ व्यंग्य नहीं। स्ट्राइक के प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व खुला नहीं था रहस्यमय था, पर इस नाटक में सब पात्रों का व्यक्तित्व खुला हुआ है। जो जैसा है वैसा ही आता है। अतः नाटक अत्यन्त स्पष्ट एकाङ्की है।

सबसे बड़ा आदमी (भगवतीचरण वर्मा)

मूल तत्व:—हिन्दी के कुछ अच्छे एकांकियों में एक यह भी है। इसमें लेखक की मनोस्थिति उपहास संयुक्त हो गई है। अन्य नाटकों से यह सबसे बड़ा अन्तर इसमें है। हास्य है, पर शिष्ट। शिष्ट हास्य तरलता के साथ आदि से अन्त तक प्रवाहित। लेखक का विशेष कौशल इसमें कि इस हास्य के साथ भी लेखक ने बड़ी गंभीर समस्या पर विचार उपस्थित किया है। वह समस्या है—'संसार में सबसे बड़ा कौन है?' लगता ऐसा है, जैसे इस विषय पर जो वाद-विवाद है, वही नाटक का मुख्य अंश है। लेखक ने कई पक्ष उपस्थित कराये हैं और व्यक्तियों को लेकर सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि कौन बड़ा है—पहला शैली, दूसरा नैपोलियन, तीसरा गान्धी; पात्रों में से एक शक्ति का, दूसरा पवित्रता और सत्य का प्रतिनिधि, तीसरा राष्ट्रीय और सत्याग्रह का पक्ष लेने वाला; चौथा लेनिन के साम्यवाद का पक्ष उपस्थित

करने वाला—इस प्रकार ये चार पक्ष इसमें प्रस्तुत किये गये हैं, और इस विवाद में भाग लेने वाले सरगर्मी से अपने-अपने पक्ष पर अड़ते हैं, किन्तु इस वाद-विवाद से भी नाटक की गति और कथा में कोई व्याघात नहीं पड़ता। क्योंकि 'गजाती' की उपस्थिति, होटल का वातावरण। एक के बाद एक व्यक्तियों का आगमन नाटक को नाटकीयता प्रदान करते रहते हैं। इस प्रकार आधुनिक युग और पूर्व युग के समन्वित आदर्शों और उन आदर्शों के वाहक प्रतीकों की व्याख्या भी हो जाती है, और उसमें से ही, और उसके द्वारा ही एक हास्य का वातावरण भी प्रस्तुत हो जाता है, और जिस समय नाटक चरम परिणति पर पहुँचता है, उस समय रामेश्वर के यथार्थ व्यक्तित्व का उद्घाटन होकर नाटक के अन्य पात्र जिस अनोखी मूर्खता से अभिमंडित दिखाई पड़ते हैं, वहीं नाटक के यथार्थ हास्य का रूप स्पष्ट होता है और वहीं नाटक समाप्त भी हो जाता है। इस प्रकार हास्य रस की तरङ्ग बहाता हुआ भी नाटक यथार्थता के धरातल पर विविध वादों के अनुयायियों पर गम्भीर और तीखा उपहास भी कर डालता है। नाटक में जैसे वे व्यक्ति ही मूर्ख नहीं बनते, वरन् जिनके लिए वे इतनी उत्तेजना से लड़ रहे थे, वे आदर्श भी जैसे ढह जाते हैं, और खूबी यह है कि रामेश्वर जैसे ठग को हम ठग नहीं समझ पाते और हमारी सहानुभूति, यद्यपि नाटक सहानुभूति के उद्रेक के लिए नहीं लिखा गया है—फिर भी जो कुछ सहानुभूति उत्पन्न होती है, वह बौद्धिक धरातल पर रामेश्वर के साथ हो जाती है, और रामेश्वर के साथ हमें भी उन आदर्शवादियों को मूर्ख बनाने में आनन्द मिलता है। कैसा अच्छा होता, कि रामेश्वर ने जो कुछ वसूल किया था उसका भी कुछ हिस्सा हम लोगों को मिलता!

इसमें एक और भी आघात लेखक ने किया है—रामेश्वर के प्रति सहानुभूति (बौद्धिक धरातल पर) उत्पन्न कराके नैतिक मर्यादा पर एक आक्रमण करा दिया है। रामेश्वर का कार्य क्या श्लाघ्य है? उसके कौशल की तारीफ हो सकती है। पर उसके कार्य की तो नहीं। नट का

कौशल निरीह है, पर रामेश्वर का कौशल तो हानिकारक ही है। हम आदर्श के प्रति इतने आकर्षित क्यों हो ? आदर्शवादी बन कर आदर्शों के लिए सिर फुटौवल करने से अच्छा है,कि अपना पैसा न खोयें। आपका जो अपना है, उसके प्रति उपेक्षित न हों, जो आपका नहीं है—उसके लिए वाग्युद्ध या शारीरिक युद्ध भी करने के लिए तैयार हो जाना कब ठीक है ? उसने यही तो दिखाया है कि आप नित्य प्रति के लिए आवश्यक वस्तु जो आपके पास है, उसकी तो उपेक्षा करते हैं; पर जो आपकी नहीं और आवश्यक नहीं (आदर्श) इसके लिए आप लड़ते हैं।

जैसे चरम परिणति पर पहुँचकर रामेश्वर का रहस्य खुलता है और 'बड़े आदमी' की जो परिभाषा वह करता है, उससे नैतिकता की सीमा कोई नहीं रह जाती। क्योंकि आदर्श स्वयं ढह जाते हैं। शैली, नैपोलियन की कला, शक्ति हमें कुछ नहीं जँच पाती। जँचती यह है कि जो हमारा पैसा ले गया, वह हमसे कुशल रहा।

अब प्रश्न है—क्या लेखक की दृष्टि में नैतिकता का कोई मूल्य नहीं ? और इसका उत्तर हमें इस नाटक से नहीं मिल सकता। इससे तो हमें लेखक का नैतिकता के प्रति मनोभाव ही प्रकट होता है। लगता है जैसे लेखक की नैतिकता में पूर्ण आस्था नहीं।

लेखक का एक तीसरा कौशल और प्रकट होता है कि नैतिकता को उसने इतने भीतर आवरण मे छिपा रखा है और उसे इस प्रकार प्रकट किया है, कि आप इस आधार पर लेखक की विपरीत आलोचना नहीं कर सकते। वह कौशल उसमें है कि लेखक ने जो अवस्था प्रस्तुत की है, वह हास्य की है। लेखक कह सकता है कि यदि नैतिकता में आपकी आस्था है तो इस एकांकी को हास्य मान लो। यदि अनास्था है तो इसे गम्भीर व्यंग्य समझ लो।

संविधान—इसमें कथानक का एक प्रकार से अभाव-सा ही हो गया है। चार आदमी लड़ रहे हैं—शैली बड़ा कि नैपोलियन। एक आदमी

आता है वह उनकी जमा-थाती ले देकर चल देता है। लोगों को लगता है, यही बड़ा आदमी था। कथानक तो इसमें बिन्दु मात्र है। संविधान की दृष्टि से यह, बिल्कुल पूर्ण है। 'लक्ष्मी का स्वागत' 'स्ट्राइक' और 'सबसे बड़ा आदमी' में कथा-संविधान तथा टेकनीक की पूर्णता है; जहाँ क्लाइमेक्स वहीं अन्त।

'स्ट्राइक' के समान इसमें तन्त्र की दृष्टि से बाह्य दोष नहीं—रेस्टोराँ एक ही स्थान, यथार्थ में घटना जितनी देर में हुई, नाटक खेलने में भी उतना ही समय। 'लक्ष्मी के स्वागत' में भूत के प्रति भी कुछ ध्यान जाता है, किन्तु इसमें शुद्ध वर्त्तमान है। इतना शुद्ध वर्त्तमान किसी में नहीं। 'स्ट्राइक' में स्थान-समय बदलना पड़ता है। 'स्ट्राइक' में जैसे पूरा दिन आ गया है। समय की अवधि अधिक है। बहुत सी घटनाएँ जैसे 'लक्ष्मी के स्वागत' में ठूँस कर भरी गई हैं। इस 'सबसे बड़ा आदमी' में कोई भी चीज ऐसी नहीं जो उतने ही समय में न हो सके। समय का तत्व इतना सुनिश्चित रखा गया है कि यह नहीं कह सकते कि यह चीज इतनी देर में नहीं हो सकती।

एक आपत्ति है—रामेश्वर इतनी देर मे सब कुछ ठग लेता है। पर ये ठग तो आँख झपकाते ही अपना काम कर लेते हैं! ठगई के लिए तो इतना ही समय चाहिए, ज्यादा समय लेता तो वह ठग ही क्या? और उसे तो एक को नहीं, सबको ठगना था। बीच में मालूम भी न पड़े, नही तो बड़ा आदमी कैसे होता!

भाव का धरातल चूँकि हास्यात्मक है, अतः 'स्ट्राइक' की तरह इसका भाव का धरातल उतना ऊँचा नहीं। समय और स्थान का दोष होते हुए भी 'स्ट्राइक' भाव की दृष्टि से बहुत उच्च स्तर पर है।

सब कुछ होते हुए भी—नाटक के नियमों की पूर्णता होते हुए भी इस नाटक में वह उद्रेक नहीं, जो हमें 'स्ट्राइक' में मिलता है। क्योंकि किसी चीज की ऊँचाई हम 'रूप की पूर्णता' से नहीं जाँच सकते, उस रूप की दिव्यता अन्तर के उल्लास और स्फूर्ति से कितनी बढ़ सकती है! यथार्थ

की दृष्टि से उसे भी जाँचने की जरूरत है। वह आन्तरिक उद्रेक इस नाटक में उतना नहीं, जितना 'स्ट्राइक' में है। विमलता का अभाव इसलिए नहीं कि लेखक ने ठगों को प्रश्रय दिया है, बल्कि इसलिए कि हमारे मन की भावना को उतना ऊँचा उद्रेक इसमें नहीं मिलता। अतः और सब पूर्णताओं के होते हुए भी यह नाटक उतना उत्कृष्ट नहीं बैठता।

'दीनू' (धर्मप्रकाश आनन्द)

जैसा कि इसके कथानक से परिचय मिलता है, दीनू मजदूरों से सम्बन्ध रखने वाला एकांकी है और मजदूरों के भी जीवन सम्बन्धी यथार्थ अभावों और कठिनाइयों को यह नाटक उपस्थित करता है। और साथ ही वर्त्तमान सामाजिक, शासन, और आर्थिक विधान पर गहरा व्यंग भी करता है। सामाजिक विधान पर सीधा व्यंग यह है कि जहाँ मजदूर के बच्चे और कुटुम्बी निरन्तर रोगग्रस्त रहते हों, वहाँ समाज की जर्जरता चरमसीमा पर पहुँच गई समझना चाहिए। उससे आगे उसकी क्या स्थिति हो सकती है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमारे डाक्टर इसी समाज-विधान के एक अंग हैं और इस समाज-विधान के आर्थिक आधार की विगर्हणा ने इनमें (डाक्टरों में) रुपये के अतिरिक्त कोई अन्य मानवीय-प्रेरणा नहीं रहने दी।

शासन-विधान पर तो समस्त नाटक एक कटु व्यंग्य करता है। शासन-विधान का वह विभाग, जिसके हाथ में स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व है, और उसका वह रूप जो इस नाटक में प्रकट किया गया है, किसी प्रकार से सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। और मंगू के चाल-चलन के विकृत होने और धीरे-धीरे उसके घर में बीमारी के प्रवेश करने का मूल उत्तरदायित्व इस शासन-विधान की पोल में ही है।

इस प्रकार यह नाटक विषय की दृष्टि से सबसे भिन्न धरातल पर है। किसी में राजनीति, किसी में सभ्यता, किसी में प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों, किसी में मानवीय राग-विराग का चित्र अंकित

किया गया मिलता है, पर वर्ग की दृष्टि से मजदूर वर्ग की इस दुर्दशा की ओर, उच्च वर्ग के इस घृणित शोषण की ओर, समाज-विधान के मौलिक दोषों की ओर, और आर्थिक असम वितरण के मर्म पर होने वाले वीभत्स अत्याचारों की ओर किसी अन्य नाटक में ऐसी और गहरी दृष्टि नहीं मिलती।

'दीनू' को पढ़ कर हमें समाज की यथार्थ अवस्था का ज्ञान हो जाता है। और मजदूर तो हमें एकदम उच्छिष्ट मल की भाँति, अथवा मल में गिजगिजाते कृमियों की भाँति प्रतीत होते हैं। इस नाटक में भी हमें संविधान और तन्त्र-सम्बन्धी कोई विशेष दोष नहीं दिखलाई पड़ते, यद्यपि नाटक में चुस्ती का किंचित् अभाव है।

नाटककार ने इसमें बौद्धिक तत्व के साथ रागात्मक तत्व का भी समावेश किया है। और हम जहाँ कथानक के संविधान में बौद्धिक आधार पाते हैं, वहाँ पात्रों की गतिविधि में रागात्मक निर्वाह भी पाते हैं क्योंकि नाटक में एक विशेष स्थिति का दृश्य उपस्थित करना ही लेखक का ध्येय रहा है, इसलिए हमें इसमें वाक्-वैदग्ध्य नहीं मिलता। डाक्टर की कल्पना मजदूरों की दुर्दशा के दृश्य को देखने ही के लिए की गई है। उसका नाटक के लिए कोई यथार्थ योग नहीं मिलता। डाक्टर के स्थान पर कोई भी व्यक्ति इस दुर्दशा का अनुसन्धान कर सकता था। केवल कुछ टेकनीकल बातों और शब्दों का ही अभाव उस समय खटक सकता था। यही कारण है कि नाटक में शिथिलता आ गई है। डाक्टर यथार्थ में कथानक का एक अंग नहीं है। मजदूरों की दशा के अनुसंधान फल ही लेखक को अभिप्रेत है। यह बहुत ही मोटा ढंग है। इससे लेखक का थोड़ा सा उद्देश्य—सरकारी विभाग पर व्यंग—वह तो पूरा हो जाता है। पर डाक्टर का जो यथार्थ में पात्रत्व होना चाहिए वह नहीं प्रकट हो पाया है।

लेखक यह मानता है कि मजदूर जो शराब पीते हैं वह विलास के लिए नहीं, अपनी पीड़ा को भुलाने के लिए।

चौकीदार—कहता है कि "पैसा किसके पास है हुजूर.....।" इसीलिए हम देखते हैं कि जो कम आमदनी वाले लोग हैं, वही ज्यादा शराब पीते हैं। पर यह सब पैसे के अभाव से।

परिशिष्ट

१. संस्कृत में एकांकी

संस्कृत में एकाँकी—संस्कृत में नाटक शास्त्र और नाट्य-कला का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। नाटकों के शास्त्र की दृष्टि से अनेकों भेद-उपभेद किये गये हैं। प्रधान भेद दो हैं—१ – रूपक, २—उपरूपक।

रूपक के दस भेद हैं:—

१ नाटक, २ प्रकरण, ३ भाण, ४ व्यायोग, ५ समवकार, ६ डिम, ७ ईहामृग, ८ अङ्क, ६ वीथी, १० प्रहसन।

उपरूपक के १८ भेद हैं—

१ नाटिका, २ त्रोटक, ३ गोष्ठी, ४ सट्टक, ५ नाट्यरासक, ६ प्रस्थान, ७ उल्लाप्य, ८ काव्य, ६ प्रेङ्खण, १० रासक, ११ सलापक, १२ श्रीगदित, १३ शिल्पक, १४ विलासिका, १५ दुर्मल्लिका, १६ प्रकरणी, ७ हल्लीश १८ भाणि।

इन अट्ठाइस भेदों में से निम्नलिखित एक अंक वाले हैं।

१ भाण, २ व्यायोग, ३ ईहामृग, ३ अंक, ५ वीथी तथा ६ प्रहसन। दस रूपकों में से ६ ऐसे हैं जो एक अंक रखते हैं। इनमें से ईहामृग के संबंध में मत भेद है। कुछ का मत है कि ईहामृग में चार अंक होते हैं, पर साहित्य दर्पण कार ने स्पष्ट लिखा है।

'ऐकाङ्को देव एवात्र ...आदि। अतः ऐसा मानना उचित होगा कि विश्वनाथ के समय तक ईहामृग एक अंक का होने लगा था। ऐसा नहीं है कि विश्वनाथ को पहला नियम विदित न हो उसने सब से प्रथम चरण में परिभाषा देते हुए लिखा है।

ईहामृगे मिश्र वृत्तान्तश्चतुरङ्का प्रकीर्तितः

ऐसी ही कुछ अवस्था 'प्रहसन' की है। मूलतः यह एक ही अङ्क का होता था, तभी पहली परिभाषा में विश्वनाथ ने लिखा है।

"भाणवत्संधि संध्यङ्ग लास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्"

भाण की भाँति अङ्क होंगे। भाण में एक ही अङ्क होता है अतः प्रहसन में भी एक अङ्क चाहिये पर आगे लिखा है—

"द्वय अंकमथवैकाङ्क निर्मितम्

दो अङ्क अथवा एक अङ्क का बनता है। विश्वनाथ के समय तक आते-आते प्रहसन दो अङ्कों का भी लिखा जाने लगा था।

१ गोष्ठी, २ नाट्यरासक, ३ काव्य, ४ प्रेङ्खण, ५ रासक, ६ श्रीगदित, ७ विलासिका, ८ हल्लीश, ९ भाणिका, *१० उल्लाप्य, ये उपरूपकों में एकांक हैं। उपरूपकों में 'उल्लाप्य' के एकाँकी होने में मत भेद है। कुछ का कहना है कि इसमें तीन अङ्क होते हैं विश्वनाथ ने कहा है "चतस्यनायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन"

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक शास्त्र में रूपक-उपरूपक के २८ भेदों में से १५ एक अंक वाले हैं।

इनके उन मूल तत्वों के पारस्परिक भेदो को भी जान लेना आवश्यक है जिनके कारण ये एक दूसरे से भिन्न माने गये। इसमें सन्देह नहीं कि इनका यथार्थ अन्तर पूर्णतः आज हम नहीं समझ पायेंगे। शास्त्र की सहायता से इनके रूप और प्रकार का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। संस्कृत के नाटक की टेकनीक और रंगमंच आज से बिल्कुल भिन्न था। तब भी शास्त्रकारों ने जो अन्तर व्यक्त करना चाहा है उससे कुछ तो अनुमान किया ही जा सकेगा।

रूपक में भाण का निरूपण साहित्य-दर्पणकार ने करते हुए बताया है कि इसमें

विविध अवस्थाओं का अन्तर द्योतक 'धूर्तों का चरित्र' होना चाहिए।

---

* सेठ गोविन्ददासजी ने 'सप्तरश्मि' के प्राक्कथन में 'रूपक' में केवल तीन एकांकियो का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने 'भाण' और 'प्रहसन' तथा 'ईहामृग' छोड़ दिये हैं। 'प्रहसन' तथा 'ईहामृग' को छोड़ने की बात तो कुछ समझ में आ सकती है क्योंकि इनके सम्बन्ध में दो मत रहे हैं।, पर 'भाण' तो निर्विवाद आरम्भ से ही एकांकी है।

एक अङ्क होता है। एक ही निपुण पण्डित विट अपने या दूसरों के अनुभव रंगमंच पर प्रकट करता है। सम्बोधन और युक्ति-प्रत्युक्ति' आकाश-भाषित के द्वारा होती है। शौर्य और सौभाग्य वर्णन के द्वारा वीर और शृंगार की सूचना दी जाती है। कीथ महोदय ने सौभाग्य का अर्थ सौन्दर्य लिया है—सुभग से व्युत्पत्ति करने पर यह अर्थ उचित है। उनका कहना है :

The subject matter is invented by the poet; a parasite sets forth his own or another's adventures, appealing to both the heroic and the erotic seni-ments by descipline of heroism and beauty in the verbal manner. pp 348

कथा कल्पित होती है। वृत्ति प्रायः भारती होती है। मुख और निर्वहण संधियां होतीं हैं। दसों लास्याङ्ग होते हैं।"

अब इस परिभाषा में, एक भाण की व्याख्या में, कई बातों को विभेद का आधार बताया गया है।

१—चरित के आधार पर
२—अंक के ,,
३—पात्रों की संख्या के ,,
४—अभिनय प्रणाली के आधार पर
५— रस के आधार पर
६—कथा के स्वाभाविक आधार पर
७—वृत्त के आधार पर
८—संधि के आधार पर
६—नृत्य के आधार पर

निम्नलिखित सूची के द्वारा विविध एकांकियों का अन्तर सहज ही स्पष्ट हो जायगा।

१	२	३	४	५	६	७	८	९
नाम	चरित	पात्र संख्या	अभिनय प्रणाली	रस	कथानक	वृत्ति	संधि	अंग नृत्य
१—भाण—	धूर्त	एक	आकाश भाषित	शृंगार-वीर	कल्पित	भारती	मुख-निर्वहण	दसों लास्यांग
२—व्यायोग	धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष	स्त्रियां कम पुरुष बहुल	स्त्रीके कारण युद्ध नहीं	हास्य शृंगार तथा शांतके अतिरिक्त कोई रस	ऐतिहासिक	कौशिकी नहीं	गर्भ-विमर्श नहीं	
३—ईहामृग	नायक तथा प्रति नायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य देवता प्रतिनायकप्रच्छन्न पापाचरण करता है	एक देवता अथवा छनायक	१. अनासक्त नारी का अपहार प्रति नायक का शृंगाराभास है २. युद्ध होते होते टल जाता है ३. महात्मा लोग वध किये जाने को होते हैं पर छूट जाते हैं	'युद्ध मानीय संरंभ' से ध्वनित होता 'रौद्र' रस	मिश्रित, कुछ ऐतिहासिक कुछ कल्पित	कौशिकी नहीं	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	

१	२	३	४	५	६	७	८	९
नाम	चरित्र	पात्र संख्या	अभिनय प्रणाली	रस	कथानक	वृत्ति	संधि	नृत्य
४—अङ्क (उत्सृष्टाङ्क)	साधारण पुरुष		स्त्री-विलाप वाक्कलह निर्वेद	करुण	इतिहास प्रसिद्ध कवि द्वारा विस्तीर्ण	भाण के समान	भाण के समान	भाण के समान
५—वीथी	उत्तम, मध्यम या अधम	एक दो या तीन	आकाश भासित विचित्र उक्ति प्रत्युक्ति	शृङ्गार-बहुल, किंचित अन्य रस भी	कवि कल्पित 'कश्चिदेकोऽत्र कल्पयते' से पात्र कल्पना के साथ कथानक कल्पना भी सिद्ध होती है	कैशिकी प्रधान	मुख निर्वहण संधियाँ अर्थ प्रवृत्तियाँ सब	उद्घात्य से मार्दव पर्यन्त तेरह अङ्ग
६—प्रहसन	निन्दनीय पुरुष			हास्यरस प्रधान	कल्पित	आरभटी नहीं	मुख निर्वहण प्रवेशक नहीं ।	भाण के समान कहीं वीथ्यंग

१	२	३	४	५	६	७	८	९
नाम	चरित	पात्र संख्या	अभिनय प्रणाली	रस	कथानक	वृत्ति	संधि	अंग
७—गोष्ठी	प्राकृत साधारण मनुष्य	६ या १० ५-६ स्त्रियाँ		काम शृंगार		उदात्त-वचन-शून्य कैशिकी	गर्भ विमर्ष नहीं	
८ – नाट्यरासक	उदात्त नायक पीठ मर्द उपनायक नायिका वासकसज्जा			शृंगार सहित हास्य रस अंगी			१—मुख निर्वहण २—प्रतिमुख के अतिरिक्त सभी	लय और ताल दस लास्यांग
९—काव्य	नायक नायिका उदात्त		शृंगार भाषित (?)	हास्य		आरभटी वृत्ति नहीं	मुख प्रतिमुख निर्वहण	खण्डमात्रा द्विपादिका भग्न ताल गीतों से पूर्ण—वर्णमात्रा तथा अंगुलिकाख्य छन्दों से युक्त

१ नाम	२ चरित	३ पात्र संख्या	४ अभिनय प्रणाली	५ रस	६ कथानक	७ वृत्ति	८ संधि	९ अंग
१०—प्रेक्षण	हीन नायक		युद्ध सम्फेट			सब वृत्तियाँ	गर्भ तथा विमर्श नहीं	सूत्रधार विष्कंभक प्रवेशक नहीं नांदी प्ररोचना नैपथ्य में
११—रासक	नायिका प्रसिद्ध, नायक मूर्ख	पाँच				भाषा तथा विभाषा युक्त भारती कौशिकी वृत्ति	१–मुख तथा निर्वहण २–प्रतिमुख भी	सूत्रधार रहित वीथ्यंग तथा कलाएँ
१२—श्रीगदित	प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक प्रख्यात नायिका नटी लक्ष्मी का रूप धारण कर कुछ गाती और पढ़ती है				प्रसिद्ध कथा	श्रीशब्द भारती	गर्भ और विमर्श नहीं	

१ नाम	२ चरित्र	३ पात्र संख्या	४ अभिनय	५ रस	६ कथा	७ वृत्ति	८ संधि	६ अंग
१३—विलासिका	हीन नायक विदूषक, विट पीठमर्द		सुन्दर वेष	शृंगार	थोड़ी कथा		गर्भ और विमर्श नहीं	दस लास्यांग
१४—दुल्लींश	स्त्रियाँ — उदात्त वचन बोलने वाला एक पुरुष	७–८ या १० स्त्रियाँ				उज्ज्वल कैशिकी वृत्ति	मुख तथा निर्वहण संधियाँ	ताल-लय बाहुल्य
१५—भाणिका	उदात्त नायिका, मन्द नायक		सुन्दर वेष			कैशकी भारती	मुख निर्वहण	७ अङ्गः उपन्यास विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति, संहार
१६—उल्लाप्य	उदात्त नायक	४ स्त्रियाँ एक नायक	संग्राम बहुल	हास्य शृंगार करुण	कथा दिव्य			शिल्पक सत्ताईस अङ्ग, अत्र गीन

उपरोक्त तालिका में कहीं-कहीं विशेष लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। उन्हें यहाँ संक्षेप में स्पष्ट कर देना उचित होगा। नाटक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं। १ बीज—वह वस्तुतत्व जो आरम्भ में सूक्ष्म होता है, और नाटक का प्रधान केन्द्र बनता है। २ बिन्दु—बीज के अंकुरित होने और कथासूत्र के आगे बढ़ने पर विविध विरोधी तथा अप्रासंगिक बातें उपस्थित होती हैं, पर उन सबमें से कथानक को अविच्छिन्न रखने वाला तत्व। ३ पताका—जो प्रासंगिक कथा के रूप हो, दूर तक व्याप्त हो, पर मुख्य कथा को प्रवाहित रखने में सहायक हो। ४ प्रकरी—प्रसंग-प्राप्त कोई छोटा कथांश। ५ कार्य—वह प्रधान साध्य जिसके लिए आधिकारिक वस्तु का विधान किया गया है, जिसके लिए समस्त उपाय और सामग्री एकत्रित की गई। पाँच कार्यावस्थाये होती हैं। १ आरम्भ—(प्रारम्भ) मुख्यफल की सिद्धि के उत्सुकता। २ यत्न—(प्रयत्न) मुख्य फल का प्राप्त करने के लिए विशेष गति से प्रयत्न। ३ प्राप्त्याशा—(प्राप्ति सम्भव) जहाँ फल-प्राप्ति की आशा संभावना की ओर विशेष हो, पर सन्देहों और आशंकाओं से भी घिरी हो। ४ नियताप्ति—समस्त विघ्नों और आशंकाओं का निवारण होकर फल प्राप्ति निश्चित हो जाय। ५ फलागम—जब फल प्राप्त हो जाय। पाँच सन्धियाँ : १ मुख सन्धि—जिसमें बीज का आरोप होकर अनेक प्रयोजन तथा रसों का उद्भव हो। २ प्रति मुख सन्धि—फल प्राप्ति के आरम्भिक उपायों के रहस्य को जहाँ कुछ तो जान लिया जाय, कुछ अस्पष्ट ही रहे। ३ गर्भ सन्धि—जिसमें फल प्राप्ति की ओर अग्रसर उपायों तथा अपायों में संघर्ष रहे। कभी उपाय का ह्रास कभी विकास। ४ अवकर्श—(विमर्श) जहाँ फल प्राप्ति का उपाय बहुत प्रबल हो चुका,पर किसी क्रोध, शाप आदि से उससे भी अधिक विघ्न से युक्त हो जाय, जिससे आशा का सूत्र एकदम विच्छिन्न हो जाय। ५ निर्वहण—जब समस्त विघ्न शान्त होने लगें। समस्त सूत्र एक प्रधान प्रयोजन में समन्वित होने लगें, फल प्राप्ति हो उठे। नाटक विविध घटनाओं तथा कथाओं का एक फल के लिए ग्रथित रूप है, अतः जहाँ एक प्रयोजन

वाली घटनाओं से निर्मित कथांशों में से जो सूत्र भिन्न प्रयोजनवाले आगे के कथांश से सम्बन्ध कराये वह सन्धि कहलायेगी।*

चार वृत्तियाँ—१ कैशिकी—मनोरंजक चमत्कारिक वेप विन्यास, स्त्रीगण, नृत्य, गीत से परिपूर्ण, काम सुख भोग उत्पादक प्रयत्न से युक्त, श्रृङ्गार-रस के लिए उपयुक्त। सात्वती—सत्व, शूरवीरता, त्याग, दया, सीधापन, हर्प, हलके शृंगार से युक्त, शोक रहित, अद्भुत रस युक्त। ३ आरभटी—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त, चेष्टायें, वध, बन्धन आदि से युक्त। ये दोनों वीर, रौद्र तथा वीभत्स रस के लिए उपयोगी हैं। जिसमें सात्वती वीर रस के योग्य अधिक है। ४ भारती—संस्कृत भापा युक्त संवाद हो, और पुरुप प्रधान हो, नारी का आश्रय न हो। यह वृत्ति सभी रसों के योग्य है।

दस लास्यांग—१ गेयपद—आसन पर बैठ वाद्य के साथ शुष्कगान। २ स्थित पाठ्य—कामोत्पीड़ित नायिका का बैठ कर प्राकृत पाठ, अथवा क्रुद्ध और भ्रान्त स्त्री-पुरुषों का प्राकृत पाठ। ३ आसीन—शोक-चिन्ता में डूबी, आभूपणादि से रहित स्त्री का बिना वाद्य बैठ कर गाना। ४ पुप्प गंडिका—वाजे के साथ, विविध छन्दों में स्त्रियाँ पुरुषों का पुरुष स्त्रियों का अभिनय करते हुए गाये। ५ प्रच्छेदक—अपने पति को अन्य स्त्री में अनुरक्त जान प्रेम-सूत्र के विच्छिन्न होने के अनुपात में वीणा पर किसी स्त्री का गान। ६ त्रिगूढ़क—पुरुष का किसी स्त्री का वेष धारण कर नाट्य। ७ सैन्धव—जहाँ कोई व्यक्ति भ्रष्ट संकेत होकर किसी वाद्य के साथ निराशापूर्ण प्राकृत गान करे। ८ द्विगूढ़—रस भाव सम्पन्न गीत, जिसमें

---

* दशरूप में धनंजय ने जो सन्धि का लक्षण दिया है, उसका George C. O. Haas ने यो अनुवाद किया है: (सन्धि) "is the connection of one thing with a different one, when there is a single sequence (of events). साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—'अन्तरैकार्य सम्बन्धः संधिरेकान्वये सति।'

सभी पद सुन्दर हों, मुख प्रति मुख से अन्वित हो। ९ उत्तमोत्तमक—कोप तथा प्रसन्नता से युक्त, आक्षेप सहित, रसपूर्ण हाव और हेला चित्र-विचित्र पदों से युक्त गान। १० उक्त प्रयुक्त—जिसमें उक्तियाँ प्रयुक्तियों से युक्त उलाहने हों, विलासपूर्ण अर्थ हों ऐसा गीत।

तेरह वीथ्यंग—१ उद्घात्यक—जहाँ कोई पद किसी अन्य अभिप्राय से कहा गया हो, पर उसमें कुछ पद और जोड़ कर एक विशेष अर्थ की प्रतीति कराई जाय। २ अवगलित—जहाँ किसी पद या प्रयोग में किसी पात्र या कार्य का सादृश्य हो, और उस सादृश्य के द्वारा उस पात्र या कार्य की सूचना दी जाय। ३ प्रपंच—परस्पर हास्य से पूर्ण असत्-वाक्य। त्रिगत—जहाँ शब्दों की समान ध्वनि के कारण, कुछ विपर्यय हो जाय और सुनने वाले विविध अर्थ निकालें। ५ छल—प्रिय लगने वाले अप्रिय वाक्यों से किसी को छलना, किसी के किसी कार्य को देखकर हँसी, रोष अथवा आक्षेपमय शब्द कहना। ६ वाक्केलि—हास्यपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्तियाँ। ७ अधिबल—स्पर्धा के कारण एक दूसरे से बढ़ कर अपना वाक्-कौशल दिखाये। ८ गण्ड—ऐसा वाक्य जो कहा तो किसी और उद्देश्य से गया हो, पर किसी अन्य प्रसंग में शीघ्रता में आकर कहा जाय, और वह उस प्रसंग में भी कोई अर्थ प्रकट करे। ९ अवस्यन्दित—अपनी स्वाभाविक उक्ति का किसी अन्य प्रकार से अर्थ करना; जैसे 'मुरारी' में। १० नालिका—ऐसी प्रहेलिका जो हास्यपूर्ण हो, प्रहेलिका : ऐसे वचन जिनमें उत्तर छिपा हो। ११ असत्प्रलाप—ऐसे वाक्य अथवा उत्तर जो परस्पर असंबद्ध हों, अथवा मूर्ख के समक्ष हित की बातें। १२ व्याहार—ऐसे हास्य और क्षोभ से युक्त वचन, जो दूसरों का उद्देश्य सफल करने के लिए कहे जायँ। १३ मृदव—जहाँ दोष भी परिस्थिति वश गुण, और गुण दोष हो जायँ।

शिल्पक के सत्ताईस अङ्ग—१ आशंसा—आशा करना। २ तर्क। ३ सन्देश। ४ ताप। ५ उद्वेग। ६ प्रसक्ति—आसक्ति। ७ प्रयत्न। ८ ग्रथन—गुँथे हुए कार्य। ९ उत्कण्ठा। १० अव-

हित्था—भय गौरव, लज्जा आदि के कारण हर्ष-प्रेम आदि के भावों को बनाना या छिपाना। ११ प्रति-पत्ति। १२ विलास। १३ आलस्य। १४ वाष्प। १५ प्रहर्ष—आनन्दाधिक्य। १६ आश्वास। १७ मूढ़ता। १८ साधनानुगम। १९ उच्छ्वास। २० विस्मय। २१ प्राप्ति। २२ लाभ। २३ विस्मृति। २४ फेट—क्रोध भरे वचन। २५ वैराग्य। २६ प्रबोधन और २७ चमत्कृति।

इस विवेचन से यह प्रमाण स्पष्ट हो जाता है कि ये संस्कृत एकांकी, हैं तो एकांकी ही, नाटक के अन्तर्गत आने वाले 'अङ्क' से आकार-प्रकार और स्वभाव में पूर्णतः भिन्न हैं। शास्त्रों में यह कोई उल्लेख नहीं मिलता कि ऐसे एकाङ्कियों की संस्कृत-काल में क्यों आवश्यकता हुई। आज एकाङ्कियों का युग है—इस युग के एक नहीं अनेक कारण हैं। मनुष्य के जीवन की व्यस्तता ने इन एकाङ्कियों की उपयोगिता सिद्ध की है। Curtain Raiser पट्टोतोलनीय Measure उपाय की भाँति इनका जन्म हुआ। भारत के इतिहास और वाङ्मय से ऐसी किसी भी आवश्यकता का किसी भी समय होने का पता नहीं चलता। नाटकों के खेले जाने के जिन अवसरों का अब तक पता चलता है, वे अवसर या तो किसी धार्मिक उत्सव देव-पूजा सम्बन्धी हैं, अथवा किसी राजकीय उत्सव से सम्बन्धित—जैसे किसी राजकुमार का विवाह अथवा कोई विजय। ऐसे आनन्द और उल्लास के समय यहाँ समय का अभाव होगा ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय जीवन के अत्यन्त अन्तरंग का चित्र हमें बाणभट्ट के आत्म-चरित से मिलता है—और उसमें हमें कहीं भी अत्यधिक व्यस्तता का पता नहीं चलता—फिर ऐसे इन एकाङ्कियों का कम से कम कुछ का आरम्भ तो भरत के समय से है—प्रायः उस काल से है जब से नाट्य-शास्त्र का, व्यवस्थित ज्ञान आरम्भ होता है—इससे स्पष्ट है कि भरत-मुनि के समय से पूर्व भी एकांकियों का संस्कृत में प्रचार था। संस्कृत में एकांकियों के प्रचार का कारण समय की कमी नहीं मानी जा सकती। तब इन एकांकियों का प्रादुर्भाव क्यों हुआ—अनुमान से यह कहा जा सकता है कि आज

जिन कारणों से हम एकांकियों की आवश्यकता और उपयोगिता सिद्ध करते हैं—उनसे पूर्वकाल से नहीं कर पाते। नाटकों की रचना का उद्देश्य भले ही किसी रूप में धर्म से सम्बद्ध रहा हो, पर उनका उपयोग भारत में कला और विद्या की दृष्टि से ही हुआ है। कला-विलास हमारी संस्कृति का सब से महत्त्वपूर्ण तत्व रहा है। अतः संस्कृत में एकांकियों की रचना अन्य प्रकार के नाटक के भेदों से भिन्न रूप वाले नाटक के द्वारा अपनी कला को अभिव्यक्त करने के लिए हुई होगी। छोटे-बड़े विविध नाटक तथा एकांकी मूलतः लिखने के शैली-भेद के ही प्रमाण हैं। अतः एक अङ्क के द्वारा ही अपनी बात को पूरी तरह कह देने की कल्पना नाटककारों के हृदय में उठी होगी, और बिना किसी बाहरी प्रभाव से विवश हुए ही नाटककार ने अपने एक नवीन प्रयोग की तरह एकांकी उपस्थित किया होगा। तब उसे बाहर की परिस्थितियों का भी सहारा और प्रोत्साहन मिला होगा।

आधे से अधिक, रूपक-उपरूपक के भेदों में एकांकियों का होना यह प्रकट करता है कि ये सब शैली भेद ही हैं, क्योंकि विशेष प्रिय इन सब में से नाटक या प्रकरण रहे। एकांकियों में से सब से अधिक प्रिय व्यायोग, भाण और प्रहसन प्रतीत होते हैं। इनमें से व्यायोग और प्रहसन हास्य के वाहन कहे जा सकते हैं। इनमें पात्र भी विशेष प्रचलित नाटकों की भाँति प्रसिद्ध गम्भीर पुरुष नहीं होते। बहुत सम्भव है इन हलके स्वभाव के रूपक भेदों की सृष्टि रुचि बदलने के ही लिए हुई हो। भाण में धूर्तता का प्रदर्शन भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये एकांकी एक विशेष प्रकार के कला-प्रयोग के लिए भी लिखे गये। नाटक या प्रकरण में एक से अधिक अंक वाले नाटकों में विविध अभिनय भावों से युक्त विविध पात्रों के लिए अवकाश रहता है—अभिनय का कौशल एक ही पात्र के द्वारा भाँति-भाँति से प्रदर्शित हो, इसके लिए तो एकांकी ही उपयोगी सिद्ध हो सकता था।

संस्कृत के एकांकी वस्तुतः 'उत्सृष्टांक' हैं—वे साधारण प्रवृत्ति के विपरीत लिखे गये हैं। उनमें से अधिकांश के प्रमुख पात्र या तो साधारण

पुरुष हैं, या निन्द्य या धूर्त या हीन—अतः पात्र कल्पना में एकांकियों का अन्य नाटकों से मौलिक विभेद माना जाना चाहिये। इसके साथ लास्यांगों का समावेश—नृत्य और संगीत का बड़े नाटकों में इतना महत्व नहीं। इससे जहाँ नाटक का समस्त संविधान एक हलकेपन से चंचल हो उठे, वहाँ संगीत और नृत्य की लहरियाँ उसे मादक भी बनादें।

सन्धि आदि की दृष्टि से नाटकीय संस्थान के आधार पर संस्कृत के इन एकांकियों में मुख्य शैली भाण की है। भाण के ही विविध रूपान्तर ये विविध एकांकी प्रतीत होते हैं। मुख और निर्वहण सन्धियाँ प्रायः सभी में आवश्यक हैं। फलतः एकांकियों के ये भेद टेक्नीक में एक दूसरे से थोड़े ही भिन्न हैं। इनमें से कुछ रूप अवश्य ऐसे हैं जो केवल शैली-भेद से ही भिन्न नहीं स्वभाव से भी भिन्न हैं—एक है भाण—एक ही पात्र, आकाश भाषित के द्वारा समस्त अभिनय प्रकट करे, यह स्वयं एक अलग ही प्रकार है। इसे दूसरे से मिलाया नहीं जा सकता। 'श्रीगदित' भी एक विचित्र सी वस्तु है। इसका ठीक ठीक निरूपण भी नहीं हो सका है। नटी लक्ष्मी बनकर कुछ गाती या पढ़ती है और श्री शब्द का बाहुल्य होता है—यह भी अन्य साधारण प्रकार के एकांकियों से भिन्न है। विलासिका को भी कुछ भिन्न स्वभाव का मानना ठीक होगा। इसमें सुन्दर वेष को प्रधानता दी गई है। यह एक सबसे नयी बात इसमें है और इसी के साथ भाणिका में भी। शेष सब एकांकी प्रायः एकसे हैं—किसी में कथानक ऐतिहासिक है तो किसी में कल्पित और किसी में मिश्रित। किसी में पुरुष अधिक हैं तो किसी में स्त्रियाँ, किसी में वीररस है तो किसी में शृंगार, किसी में हास्य। किसी में प्रतिमुख सन्धि अधिक है, किसी में गर्भ और विमर्श भी। किसी में प्रवेशक भी है। किसी में लास्यांग है तो किसी में वीथ्यंग—पर मूल संविधान इन सब का एक है।

संस्कृत की इस परम्परा से देखा जाय तो आज के एकांकियों को भी अनेक भेदों में बाँटना होगा और प्राचीनों के सब नाम तो काम में आ ही जायँगे शायद नये नाम भी रखने पड़ जाँय। पर आज इससे कोई विशेष

लाभ नहीं होगा। हमारे हिन्दी के एकांकी संस्कृत की इस परम्परा से नहीं आये। मुसलमानों के आगमन और उनकी भारत-विजय के पश्चात् नाटकों की प्रगति बिल्कुल रुक गई—मुसलमानों को धर्मतः नाटकों से घृणा थी, उस पर भी भारतीय नाटक तो गुँथे हुए थे हिन्दू-धर्म के आधार-चरित्रों से। नाटकों का ह्रास हुआ—एकांकियों का भी हुआ।

अंग्रेजी में एकांकी का उदय और उसका हिन्दी पर प्रभाव

हिन्दी में एकांकियों की एक परम्परा हमें संस्कृत तथा बँगला से होकर भारतेन्दु युग में और तब से अब तक मिलती है। इस इतिहास में हमें मिलता है कि आधुनिक काल में इन एकांकियों में जिस कला का उद्घाटन हुआ है, उसमें पाश्चात्य एकांकियों का बहुत बड़ा हाथ है। आधुनिक काल से पूर्व के एकांकियों में साहित्य का एक अलग अङ्ग होने का भाव नहीं था। वे रूपकों के ऐसे ही भेद थे जैसे प्रकरण, नाटक आदि थे—और उन्हें नाटक का ही नाम भी दिया जाता था। उनकी टेकनीक के किसी पृथक नियम में, उस काल में, कोई विश्वास नहीं था। पाश्चात्य के द्वारा हमें यह चेतना मिलती है कि एकांकी का साहित्य में अलग मूल्य है, और उसकी टेकनीक का पाश्चात्य टेकनीक से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इङ्गलैंड में एकांकियो के उदय होने की बड़ी रोचक कहानी है। वहाँ पर नाटकघरों के प्रबन्धकों को एक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। नाटक आरम्भ होने के समय उनके सब दर्शक उपस्थित नहीं हो पाते थे। अंग्रेजों को रात्रि कालीन भोजन देर से करने का अभ्यास रहा है फलतः बहुत से दर्शक देर से भोजन करके आते, और खेल आरम्भ हो जाता तो उनके प्रवेश से अन्य दर्शकों को बड़ा रोष होता, वे उन्हें विघ्न स्वरूप प्रतीत होते थे। खान-पान की आदतों में तो इस मनोरंजन के लिये परिवर्तन हो नहीं सकता था। नाटकघर के प्रबन्धकों को ही कोई मार्ग ढूँढना था। जो ठीक समय पर उपस्थित हो गये हैं, वे भी असन्तुष्ट होकर उठ न जायँ, और जो देर में आने वाले हैं, उनका आना विघ्नस्वरूप भी न लगे, ऐसी कोई योजना प्रस्तुत होनी चाहिए। इसके लिए प्रबन्धकों ने पट्टोत्तोलकों

(Curtain-raisers) का विधान किया। ये पट्टोत्तोलक ही एकांकी के पिता थे। प्रबन्धक मुख्य नाटक के आरम्भ होने से पूर्व एक ऐसे दृश्य का अभिनय करा देते थे, जो मूल नाटक के समान उच्चकोटि का तो हो नहीं, कार्य आरम्भ होने में नियम का पालन भी हो जाय, और देर से आने वालों से दर्शकों को कोई उद्वेग भी न हो। एक बहुत ही साधारण कोटि का अभिनय, छोटा सा केवल दर्शकों को विरमाए रखने के लिए। यही एकांकी थे—और इनका नाम कर्टेन-रेजर अर्थात् पट्टोत्तोलक था, ये वॉडेविल्ले (Vandeville) भी कहलाते थे। इँगलैण्ड में तो ये बड़े नाटकों से पूर्व उपरोक्त कारणों से ही खेले जाते थे। हाँ, पेरिस में, ग्राण्ड गिग्नौल (Grand Gingnol) थियेटर में सन्ध्या के समय कई एकांकी एक साथ खेले जाते थे।

इन पट्टोत्तोलकों से पहले तो नाटक के प्रबन्धकों को कोई भय नहीं लगा, उन्हें वे अपने प्रबन्ध में सहायक प्रतीत हुए, पर धीरे-धीरे ये कर्टेन-रेजर अपनी रोचकता में वृद्धि पाने लगे, और कभी-कभी तो ऐसा होता कि मूल नाटक से ये अधिक रोचक बन पड़ते। उस अवस्था में दर्शकगण एकांकी के बाद मूल नाटक की शिथिलता से उद्विग्न होकर एकांकी देख कर ही नाटक-भवन छोड़ जाते। प्रबन्धकों ने जो योजना अपनी सुविधा के लिए तैयार की थी, वह अब उन्हे असुविधाजनक लगने लगी। एकांकी के पूर्वजों ने अपने आरम्भ-काल में ही नाटकों को परास्त कर डाला। यह बात १६०३ अक्टूबर में बहुत ही प्रखर होकर सामने आयी। वैस्ट एण्ड थियेटर में अक्टूबर १६०३ में डवल्यू० डवल्यू० जेकब्स की छोटी कहानी 'मंकीज पा' को लुई ऐन० पार्कर्स ने पट्टोत्तोलक के रूप में प्रस्तुत किया वह एकांकी इतना सुन्दर और रोचक बन पड़ा कि दर्शकों की भीड़ ने उसे देख लेने के बाद उस दिन के प्रधान नाटक को देखने के लिए ठहरना भी उचित नहीं समझा—वे उठ उठ कर चले गये। इससे भयभीत होकर नाटकघर के प्रबन्धकों ने इस वर्ष से कर्टेन रेजरों का खेलना ही बन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्टेनरेजरों का तो लोप अवश्य हो

गया पर उन्होंने एक नया मार्ग दिखा दिया—और एकांकी इन नाटकघरों से अलग विकास पाने लगा।

जिस प्रकार हिन्दी और संस्कृत में एकांकियों की प्राचीन परम्परा मिलती है, वैसी ही अँगरेजी में भी बहुत प्राचीन काल से मिरेकल और मिस्टरीज नाम के खेल एकांकी ही होते थे—यद्यपि बहुत बड़े होते थे व अपने यहाँ के स्वाँगों की भाँति, इँगलैंड में भी गाँवों में ग्रामीण अभिनय होते थे। वे भी एकांकी ही कहे जा सकते हैं। पर इन सब में आधुनिक एकांकी के बीज भी नहीं माने जा सकते। इनका यथार्थ आरम्भ १९०३ के या इसके बाद से ही मानना उचित होगा। अभी ४०-५० वर्ष ने ही एकांकी ने जो प्रमुखता प्राप्त करली है और जो ऊँचाई अपनी कला में उसने सिद्ध की है—उसके कई कारणों में से एक कारण यह भी है कि कुछ ऐसे उद्योग हुए जिनमें एकांकियों को अलग प्रोत्साहन दिया गया। पाश्चात्य देश के, विशेषकर इँगलैण्ड के मनीषियों ने नाटक या ड्रामा की शक्ति को समझा था, फिर भी वह अच्छे हाथों में नहीं था, जिससे एक प्रकार की साधारण उदासीनता नाटकों के प्रति विद्यमान थी। और यह कला उतना ऊँचा धरातल भी नहीं पा सक रही थी। यह अवस्था चिन्ताजनक थी। विद्वानों और कलाविदों ने इस अवसाद को दूर कर देने के लिए और निम्नश्रेणी के व्यवसायी हाथों से नाटकों को निकालकर उन्हें ऊँचा स्टैंडर्ड प्रदान कराने के लिए उन्होंने रेपरटरी आन्दोलन शुरू किया और रेपरटरी थियेटर की स्थापना की। इनमें छोटे-छोटे पर सुरुचि और ऊँची कला से युक्त नाटकों का अभिनय कराया। अमरीका में 'लिटिलथियेटर' ने ऐसे ही उच्चकोटि के एकांकियों को प्रोत्साहन दिया। इन सब का परिणाम यह हुआ कि नाटक-सम्बन्धी धरातल और रुचि भी ऊँची हुई, उसकी कला की उन्नति भी हुई और यह कला अच्छे हाथों में भी चली गयी। १९३२ में ब्रिटिश ड्रामा लीग और स्कॉटिश कम्युनिटी ड्रामा एसोशियेशन ने एकांकियों की प्रदर्शिनी करायी जिसमें सात-सौ सभा सोसायटियों ने एकांकी खेले थे।

बीसवीं सदी में जो युग परिवर्तन हुआ था—एक तो जीवन की व्यस्तता का—वैज्ञानिक आविष्कारों और महायुद्ध के दबाव के कारण बढ़ जाना, दूसरे मानव में हलके उद्वेगों से उठकर बौद्धिक सन्तोष के लिए मानसिक आनन्द-कोष को तरंगित करने की चाह, तीसरे जीवन के हर पहलू में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पैठ जाने के कारण समस्त आचार और सामाजिक तत्वों की नयी व्याख्या की आवश्यकता—चतुर्दिक एक क्रांति अथवा नयी साधना की अपेक्षा प्रतीत होने लगी थी, एकांकी उसीकी पूर्ति का सहज और महत् साधन था। इसकी ओर महत्-प्रतिभायें आकर्षित हुईं उन्होंने अपनी प्रतिभा का माध्यम इसे बनाया और इसे और भी भव्य बना दिया। सिंज, बर्नार्डशा, ओनील, गैल्सवर्दी आदि ने इसमें एक नया स्पंदन भर दिया।

हिन्दी में पाश्चात्य जगत के जिस एकांकीकार का सीधा और भास्वर प्रभाव पड़ा है, वह बर्नार्डशॉ है। यों तो इब्सन आदि का भी प्रभाव माना जा सकता है और फिर एक नहीं अनेकों का प्रभाव हिन्दी के विविध एकांकी-कारों पर मिलेगा। सब से सीधा प्रभाव जिस एकांकीकार ने हिन्दी में पाश्चात्य से ग्रहण किया, वह भुवनेश्वर है। वह तो उस प्रभाव को पूरी तरह पचा भी नहीं सका। भाव में, रंग में, स्वभाव में मौलिक लगते हुए भी उनके एकांकी अनु-वाद से हैं। दूसरा उपेन्द्रनाथ अश्क है, पर इस नाटककार ने केवल टेकनीक और सामग्री के लिये प्रेरणा पाश्चात्य से ली, उसे पचाया और तब उसने अपनी समाज और घर के व्यवहारों से उसके लिये सामग्री प्रस्तुत की। इसमें इसीलिए बहुत अधिक घरेलू यथार्थवाद आ गया है। सेठ गोविन्ददास तीसरे व्यक्ति हैं जिन्होंने टेकनीक को उधार लिया, पर उसमें कुछ अपना हाथ भी लगाया, और अपने आदर्शों की तथा सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये एकांकियों को जैसे माध्यम बनाया—इसीलिए उनके एकांकियों में सावधान शिल्प का सधा और परिमार्जित हाथ मिलता है, प्रतिभा का अधिकारी उपयोग नहीं मिलता। उनके एकांकी आगरा के बने संगमरमर के ताजमहलों की भाँति दर्शनीय हैं। डा० रामकुमार वर्मा पर भी इस प्रभाव

का अभाव नहीं, पर उनके एकांकी की कल्पना में भाव्य और काव्यमयी परि-स्थितियों की रंगत खूब जमी हुई है, और उनके एकांकी की टेकनीक जैसे उनके बोझ से दबी जा रही है। उनका हँसी जैसे रूमानी का ढंग है, नजाकत और नफासत के काव्यमय और कौतूहल मय भाव-भूमि में निर्मित होने वाली—अदाँ वाली। इन कुछ संकेतों से वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यह वस्तुतः पृथक अध्ययन का विषय है। और जो यहाँ कहा गया है उसका अभिप्राय केवल यही है कि एकांकी कला की प्रेरणा पाश्चात्य साहित्य से मिली है, पर इसकी परम्परा अगाध है। अतः हिन्दी ने अपनी निजी मौलिक कला को भी विकसित किया है, जो इस अध्ययन से प्रकट होता है।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि हिन्दी के एकांकियों के नवोत्थान में अंग्रेजी एकांकियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है, और अब भी अंग्रेजी तथा पाश्चात्य जगत से हिन्दी-एकांकी बहुत कुछ ग्रहण कर रहा है। अंग्रेजों के बाद अब रूस का प्रभाव बढ़ रहा है।

हिन्दी में एकांकी पर साहित्य

*१—एकांकी नाटक—प्रो० अमरनाथ गुप्त एम० ए०,

*२—नव नाटक-निकुंज—श्री नर्मदाप्रसाद खरे

*३—छह एकांकी नाटक—श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र'

*४—चारुमित्रा
*५—रेशमीटाई
*६—पृथ्वीराज की आँखें
} डा० रामकुमार वर्मा

७—अभिनव एकांकी नाटक—उदयशंकर भट्ट,

*८—मुद्रिका
*९—दो एकांकी नाटक
} प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी

*१०—सप्तरश्मि—सेठ गोविन्ददास

*११—नीलदेवी—(हरिश्चन्द्र)—सं० प्रोफेसर ललिताप्रसाद सुकुल

१२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल

१३—आधुनिक हिन्दी नाटक—प्रो० नगेन्द्र

१४—हिन्दी-नाट्य-विमर्श—प्रो० गुलाबराय एम० ए०,

अन्य

१५—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'ड्रामा' पर प्रबन्ध

१६—वन एक्ट प्लेज ऑव टुडे—जार्ज० जी० हैरप एण्ड को

१७—हिन्दी-नाट्य-साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास

१८—नाटक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

१९—साहित्यदर्पण विमलाख्याटीका सहित—(हिन्दी अनुवाद)—
शालिग्राम शास्त्री

२०—संस्कृत ड्रामा—कीथ

२१—दी इण्डियन स्टेज (दो भाग)—हेमेन्द्रनाथदास गुप्त ।

२२—दी थ्योरी आव ड्रामा—एलार्डिस निकोल

२३—सैवन फेमस वन ऐक्ट प्लेज—पेंगुइन सिरीज ।

विविध पत्र-पत्रिकायें, जिनमें से मुख्यतः हंस, वीणा, साहित्य-संदेश, साधना, विशालभारत, हिन्दी-प्रदीप की फाइलें—आदि ।

जहाँ * चिह्न है, वहाँ भूमिका से अभिप्राय है ।

एक बार लेखक पुनः उन विद्वानों का आभार मानता है जिनकी रचनाओं का उपयोग इस पुस्तक में किया गया है ।